वृन्त और विकास

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी हिन्दीके उन वरेण्य आलोचकों और विचारकोंमें हैं जो किसी प्रकारके पूर्वाग्रहसे निर्मुक्त रहकर उदार दृष्टिसे साहित्यका मूल्य आँकते हैं। 'वृन्त और विकास' में उनकी सहृदय लेखनीने छायावादसे लेकर अधुनातन प्रवृत्तियों तक पर विचार किया है। एक ओर नेहरू और पन्तकी काव्यात्मक उपलब्धियोंका विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है, दूसरी ओर तरुण कवियों और कथाकारोंकी क्षमताओं और सम्भावनाओंपर भी प्रकाश डाला है।

द्विवेदीजी आलोचक ही नहीं, शिल्प-सिद्ध शैलीकार भी हैं। उनकी जो आलोचनात्मक उपलब्धियाँ हैं, उनका मौलिक महत्त्व तो है ही; उससे अधिक महत्त्व उनकी भाषा और वस्तुतत्त्वके प्रस्तुतीकरणका है। इन निबन्धों द्वारा साहित्यके सांस्कृतिक और मूलजीवन्त आधारोंको समझाया गया है। समाज, साहित्य और संस्कृतिके पारस्परिक सम्बन्धोंको अपनी सम्यक् दृष्टिसे परखते हुए सतत जागरूक लेखकने क्षण-प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तनों और मानव-मूल्योंको अपनी सशक्त और संयत लेखनीसे अमृतत्व दे दिया है।

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—९६

वृन्त और विकास

शान्तिप्रिय द्विवेदी

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

साहित्य और समाजकी साधिका

आदरणीया

देवी महादेवी वर्मा

को

समर्पित

वक्तव्य

'वृन्त और विकास' साधन और साध्यका प्रतीक है। कविके कथनानुसार 'वस्तु-विभवपर ही जनगणका भाव-विभव अवलम्बित' है। वृन्तमें वस्तु (साधन) कृषि और ग्रामोद्योग है, साहित्य-संस्कृति-कला उसीका भाव-विकास है।

मेरी पुस्तकोंमें सूत्रवत् एक विचारधारा अन्तर्निहित रहती है, इसीलिए पुस्तकोंके नाम प्रतीकवत् हो जाते हैं। समवेत विचारधाराके कारण लेखोंमें भी परस्पर सम्बद्धता (क्रमबद्धता) रहती है। वे प्रकीर्णक नहीं होते, ग्रन्थ बन जाते हैं।

मेरी पुस्तकोंके प्रतीक नाम प्राकृतिक और सांस्कृतिक हैं। प्रकृति और संस्कृतिमें मुझे अन्योन्यता जान पड़ती है, जैसे माता और सन्ततिमें। प्रकृतिका ही सात्त्विक विकास संस्कृतिमें होता है।

प्राकृतिक प्रतीकोंसे मैं मनुष्यका ध्यान धरतीकी ओर आकर्षित करता हूं, भाव-विचार-आदर्शको उसीका पार्थिव आधार देता हूँ। धरती जड़ नहीं, सगुण-सदेह चेतना है। कविके शब्दोंमें—

> इस धरती के रोम रोममें
> भरी सहज सुन्दरता,
> इसकी रज को छू प्रकाश
> बन मधुर विनम्र निखरता

लोलार्क कुण्ड,
वाराणसी
२०-१०-१९५९

—लेखक

अनुक्रमणिका

वृन्त और विकास

•

नेहरूजी : विचार और व्यक्तित्व

पन्द्रह वर्ष पहिले, सन् ४४ में 'सामयिकी' में लिखे मेरे एक लेखका शीर्षक था—'जवाहरलाल : एक मध्यबिन्दु'। जैसा कि पुस्तकके नामसे स्पष्ट है, 'सामयिकी' में सामयिक वातावरणके सन्दर्भमें वर्त्तमान साहित्य और उसकी सार्वजनिक प्रवृत्तियोंका विवेचन किया गया था। उस समय 'हंस' में उसकी समीक्षा करते हुए हिन्दीके एक एम० ए० ने (जो इस समय शान्ति-निकेतनमे अध्यापक हैं), लिखा था—साहित्यिक पुस्तकमें राजनीतिक नेता (नेहरू) पर लेख देनेकी क्या आवश्यकता थी !

नेहरू जी क्या केवल राजनीतिक नेता हैं ? यदि उन्हें इस रूपमें भी देखें तो वे अन्य नेताओंसे भिन्न हैं, युग-विधाता हैं। जो जीवनका निर्माता है वह साहित्यसे त्यक्त कैसे हो सकता है ! जवाहरलाल नेता ही नहीं, विचारशील साहित्यकार भी हैं। उनमें एक ऐसी हार्दिकता है जो उन्हें चिरशिशु बनाये रखती है। नेताके रूपमें जनता उनकी महत्ताका सम्मान ही नहीं, बल्कि उनकी शिशुताको प्यार भी करती है।

भारतकी स्वतन्त्रताके पूर्व हिन्दी-साहित्यमें गान्धीवादको ही स्थान मिला था, नेहरूजीको गान्धीजीसे अलग करके उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्वमें नहीं देखा जाता था। 'सामयिकी' में मैंने उनके विचारोंको विशेषरूपसे देकर उनके व्यक्तित्वका ही वैशिष्ट्य स्पष्ट किया था। उस समय वे गान्धी-वाद और साम्यवादके बीचकी कड़ी जान पड़े थे, इसीलिए उन्हें 'एक मध्यबिन्दु' के रूपमें अङ्कित किया था।

सन् '४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ। सन् '४४ में जो जवाहरलाल एक मध्यबिन्दु थे, अब वे शीर्षबिन्दु हैं। आज भारतके ही नहीं, सारे संसारके आकर्षणके केन्द्रबिन्दु हैं। गान्धीजीके नेतृत्वमें भारतने जो सांस्कृतिक

चेतना पायी उसी चेतनासे प्रभावित होकर युद्धोत्तर (दूसरे महायुद्ध के बादका) विश्व जवाहरलालजीको पञ्चशील और सह-अस्तित्वके अन्यतम प्रतिनिधिके रूपमें देखता है। इसका प्रमुख कारण तो विशाल भारतकी राजनीतिक सत्ता (स्वतन्त्रता) है, किन्तु इसीलिए उसका सांस्कृतिक उत्तराधिकार भी गण्यमान्य हो गया है।

क्या जवाहरलाल अब मध्यबिन्दु नहीं हैं, हाँ, अब भी वे मध्यबिन्दु हैं। पहिले राष्ट्रीय परिधिमें जो मध्यस्थता भारतीय समस्याओंके बीच करते थे, वही मध्यस्थता आज अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंके बीच करते हैं। उनकी मध्यस्थता ही तथाकथित राष्ट्रोंके बड़प्पनसे भी ऊपर उठकर शीर्षबिन्दु हो गयी है।

जवाहरलालजीको समझनेके लिए उनकी आत्मकथा ('मेरी कहानी') देखनी चाहिए।

उन्हें अपनी आत्मकथा लिखे प्रायः पच्चीस वर्ष हो गये। इन इतने वर्षोंमें कितना युग-परिवर्त्तन हो गया! जवाहरलालजीके कितने ही भाषण अखबारोंमें निकलते रहते हैं, उन्हींकी तरह उनके विचार भी सबके सामने आते रहते हैं। तो क्या अब उनकी आत्मकथाका कोई महत्त्व नहीं है, वह अतीत हो गयी है? ना, जवाहरलालजीकी आत्मकथा केवल अखबारी रिपोर्टिंग नहीं है, उसमें वह जीवन्त चेतना है जिसके द्वारा किसी भी व्यक्तित्व और नेतृत्वका निर्माण होता है। यह आत्मकथा जवाहरलालजीकी मनोभूमि और उससे उपन्न विचारोंकी कुञ्जी है। इसका वही स्थायी महत्त्व है जो गान्धीजीके 'हिन्द-स्वराज्य'का। युग-पर-युग बीत जानेपर भी इन पुस्तकोंसे इनके प्रणेताओंके विश्वासों और विचारोंका सार्वकालिक परिचय मिलता रहेगा। पच्चीस वर्ष बाद आज भी हम जवाहरलालजीकी आत्मकथामें उनके अन्तर्द्वन्द्वों और विचारोंको देख सकते हैं। पहिले वे गान्धीवाद और साम्यवादके बीच मानसिक संघर्ष करते थे, आज संस्कृति और विज्ञानके बीच संघर्ष कर रहे हैं।

जवाहरलालजीके सामने संघर्ष इसलिए है कि उनमें वैज्ञानिक विचारों की उष्णता अधिक है। संयोगसे वे एक ऐसे देशमें उत्पन्न हुए जहाँ हिमालयकी शीतलता भी है, वही उन्हें वैसे ही नियन्त्रित रखती है जैसे स्वतन्त्रता-संग्राममें गान्धीजीका नेतृत्व नियन्त्रित रखता था। अपनी आत्म-कथामें, अलमोड़ा जेलके संस्मरणमें उन्होंने श्रद्धापूर्वक लिखा है—"बीचमें आ जानेवाले जंगलोंसे लदे पहाड़ोंके बहुत ऊपर बड़ी दूरपर हिमालयकी बर्फीली चोटियाँ चमक रही थीं। अतीतके सारे बुद्धि-वैभवको लिये भारतवर्षके विस्तृत मैदानके ये सन्तरी बड़े शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखनेसे ही मनमें एक शान्ति-सी छा जाती थी, और हमारे छोटे-छोटे द्वेष और संघर्ष, मैदान और शहरोंकी वासनाएँ और छल-छिद्र तुच्छ-से लगने लगते और उनके हमेशाके मार्गोंसे बहुत दूरकी चीज लगते।"—अलमोड़ा जेलमें नेहरूजी अपने इसी 'एकाकी वैभवी' (एकान्त भाव) में प्रकृतिस्थ रहते थे।

मौलिक मतभेद

धर्मको न मानते हुए भी नेहरूजी जैसे विवश होकर हिमालयकी शीतलता और प्राकृतिक सुषमाको शिरोधार्य करते हैं और अभी हालमें अपने परिश्रान्त मस्तिष्कको विश्राम देनेके लिए कुल्लू घाटी चले गये थे, वैसे ही वैज्ञानिक उष्णतासे ऊबकर शान्तिके लिए संस्कृतिकी ही शरणमें जाते हैं। फिर भी अपनी आत्मकथामें जैसे गान्धीवादको स्वीकार करके भी उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया, वैसे ही संस्कृतिको शिरोधार्य करके भी उसे वे अङ्गीकार नहीं कर सके हैं। उनकी आस्था और वास्तविकता में अन्योन्यता नहीं है, साध्य और साधनमें एकता नहीं है। साध्य वे जीवनके नैतिक गन्तव्यको मानते हैं, इसीलिए कहते हैं—केवल वैज्ञानिक उन्नतिसे लाभ नहीं हो सकता। किन्तु साधनोंके रूपमें वे विज्ञानको ही अपनाते हैं। अभी हालमें (६ अप्रैल, सन् १९५९), इलाहाबादकी

सार्वजनिक सभामें उन्होंने कहा था—"वेदोंमें ऊँचे सिद्धान्तोंका ज़िक्र है किन्तु उनमें कारखाने चलानेकी विधिका उल्लेख नहीं है, अतएव वैदिक कालका तौर-तरीक़ा आजके ज़मानेके लिए मौजूं नहीं है।" ऐसा जान पड़ता है कि साधनोंको भौतिक सुविधाओंके रूपमें देखते हैं और साध्यको मानसिक उत्कर्षके रूपमें। क्या साधन और साध्य इस तरह तन-मनमें विभक्त किया जा सकता है? आन्तरिक सूक्ष्मता (गान्धीवाद) को न मानते हुए भी जवाहरलालजी नैतिक साध्यको मानसिक रूपमें अध्यात्मवादियोंकी तरह अतीन्द्रिय कर देते हैं। कैसा विरोधाभास है! उनके लिए दैनिक जीवन और नैतिक जीवनका क्षेत्र अलग-अलग है। अपनी आत्मकथामें वे सन्तति-निरोधके प्रसङ्गमें गान्धीजीके संयम-सम्बन्धी विचारोंकी समीक्षा करते हुए लिखते हैं—"विषय-भोगमें संयम ज़रूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बातमें शक है कि गान्धीजीके उसूलोंसे यह संयम किसी बड़ी हद तक हो सकेगा। वह संयम बहुत अधिक कड़ा है, और ज़्यादातर लोग यही समझते हैं कि वह उनकी ताक़तके बाहर है, और आम तौरपर अपने मामूली तरीक़ेपर चलते रहते हैं और अगर नहीं चलते तो पति-पत्नीमें खटपट हो जाती है। स्पष्टतः गान्धीजी यही समझते हैं कि सन्तति-निग्रहके साधनोंसे निश्चित रूपसे लोग अत्यधिक मात्रामें काम-तृप्तिमें लग जायँगे और अगर स्त्री और पुरुषका यह इन्द्रिय-सम्बन्ध मान लिया जाय तो हर मर्द हर औरतके पीछे दौड़ेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुषके पीछे। उनके दोनों निष्कर्षोंमेंसे एक भी सही नहीं है और यद्यपि यह सवाल बहुत महत्त्वपूर्ण है फिर भी मेरी समझमें यह नहीं आता कि गान्धीजी उसपर (संयमपर) इतना ज़्यादा ज़ोर क्यों देते हैं। उनके लिए तो इसके दो ही पहलू हैं—इस पार या उस पार; बीचका कोई रास्ता नहीं है। दोनों ओर वे ऐसी पराकाष्ठाको पहुँच जाते हैं जो मुझे बहुत ग़ैरमामूली और अप्राकृतिक मालूम होती है।........मैं मानता हूँ, कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ और मेरे जीवनमें वैषयिक भावना-

का असर रहा है। लेकिन न तो मैं उनके क़ाबूमें रहा और न उसकी वजहसे कभी मेरे दूसरे काम रुके।''

जैसे सन्तति-निरोधको नेहरूजी वैज्ञानिक दृष्टिसे देखते हैं वैसे ही औद्योगिक प्रश्नोंको भी वैज्ञानिक दृष्टिसे ही देखते हैं। गान्धीजी वैज्ञानिक प्रगतिको अस्वाभाविक मानते थे। उनका कहना था—''इतनी अधिक कृत्रिम और तेज़ीसे चलनेवाली चीज़ोंसे दुनियाका सुधार करनेकी कोशिश कतई ग़ैरमुमकिन है।'' नेहरूजीका कहना है—''ख़ुद मैं तो बड़ी मशीनरी और तेज सफ़रको हमेशा पसन्द करता रहा हूँ।''

धीमी और तेज़ रफ़्तारमें कौन पराकाष्ठापर है, गान्धीजी या नेहरूजी? यदि गान्धीजीके पास 'बीचका कोई रास्ता' नहीं था तो नेहरूजीके पास बीचका कौन रास्ता है? अभी हालमें नेहरूजी जब भूटान गये थे तब उन्हें वहाँ बिना पहियोंकी गाड़ी देखकर प्रसन्नता हुई थी और उन्होंने परामर्श दिया था कि ''भूटानको अपनी मौलिकता बनाये रखनेके लिए विदेशियोंको नहीं आने देना चाहिए। हाँ, शिक्षाके लिए छात्रोंको बाहर भेजना चाहिए।'' सोचनेकी बात है कि भूटानमें यदि विदेशियोंका आना रुक भी जाय तो बाहरसे शिक्षा प्राप्त करके आने वाले छात्र उसे विदेशी प्रभावसे कैसे मुक्त रख सकेंगे? क्या उस 'बिना पहियेकी गाड़ी' वाले देशमें भी 'बड़ी मशीनरी और तेज सफ़र' नहीं शुरू हो जायगी?

नेहरूजी जैसे भूटानकी मौलिकता चाहते हैं वैसे ही गान्धीजी भारतकी मौलिकता चाहते थे। किन्तु नेहरूजी जिस अवैज्ञानिक युगकी मौलिकता-पर मुग्ध हैं उस मौलिकताकी क्रियात्मक साधनाको विशेष प्रश्रय नहीं दे पाते हैं। उदाहरणके लिए खादीके सम्बन्धमें उनके विचार देखिए, वे लिखते हैं—''गान्धीजीके ख़ासतौरपर प्रिय खादी-आन्दोलनके काममें व्यक्ति-वाद और भी गहरा होता है और इस तरह वह हमें औद्योगिक ज़मानेसे पीछे फेंक देता है। आजकलके किसी भी बड़े मसलेको हल करनेके लिहाज़से तो आप उसपर बहुत भरोसा कर ही नहीं सकते। इसके अलावा उससे

एक ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमें सही दिशाकी तरफ बढ़ने देनेमें अड़चन साबित हो सकती है। फिर भी मैं मानता हूँ कि कुछ समयके लिए उसने बहुत फ़ायदा पहुँचाया और भविष्यमें भी कुछ समयके लिए और लाभदायक हो सकता है, उस वक़्त तकके लिए जब तक सरकार व्यापक रूपसे देशभरके लिए कृषि और उद्योग-धन्धोंसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नोंको ठीक तरहसे हल करनेके कामको खुद अपने हाथमें नहीं ले लेती।"—आज स्वतन्त्र भारतमें प्रधान मन्त्री नेहरूजीकी सरकार पञ्चवर्षीय योजनाओंके द्वारा 'कृषि और उद्योग-धन्धोंसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नोंको ठीक तरहसे हल करनेके कामको खुद अपने हाथमें' ले रही है।

नेहरूजी आगे फिर लिखते हैं—"खादीका सबसे अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है। खादीने शहरवालों और गाँववालोंके बीचकी खाईको पाटनेकी कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यवर्गके पढ़े-लिखे लोगों और किसानोंको एक-दूसरेके नजदीक पहुँचाया है। कपड़ोंके पहननेवालों और देखनेवालों दोनोंके ही मनपर बहुत असर पड़ता है।.......ग़रीबसे ग़रीब आदमी भी खादी पहनकर आत्मसम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहाँ बहुतसे खादीधारी लोग जमा हो जाते थे वहाँ यह पहचानना मुश्किल हो जाता था कि इनमें कौन अमीर है और कौन ग़रीब, और इन लोगोंमें साथीपनका भाव पैदा हो जाता था। इसमें कोई शक नहीं कि खादीने कांग्रेसको जनताके पास पहुँचनेमें मदद दी। वह क़ौमी आजादीकी वर्दी हो गयी।"

नेहरूजी विचारक ही नहीं, योद्धा और खिलाड़ी भी हैं। (कुछ समय पहिले वे अकाल-पीड़ितोंकी सहायताके लिए अपने मन्त्रिमण्डलके साथ हॉकी लेकर खेलके मैदानमें उतर पड़े थे।) अपनी आत्मकथामें चर्खेको उन्होंने एक संघर्षरत खिलाड़ीकी दृष्टिसे देखा है। उनका कहना है कि भीतर यदि संघर्षकी प्रेरणा हो तो उसका प्रतीक चर्खा ही नहीं, झाड़ू भी हो सकता है।

खादी क्या केवल 'क़ौमी आज़ादीकी वर्दी' है और चर्खा क्या संघर्षका प्रतीक मात्र है ? क्या खादी और चर्खेकी उपयोगिता तात्कालिक और राजनीतिक है ? जैसा कि नेहरूजीने कहा है—'खादीका सबसे अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है।'—यह अच्छा 'मानसिक परिणाम' क्या केवल 'आत्मसम्मान और प्रतिष्ठा' का ही सूचक है, क्या इससे कोई और नैसर्गिक निर्देशन नहीं मिलता ? क्या यह मनुष्यको उसकी औद्योगिक मौलिकताकी प्रेरणा नहीं देता ? खादी केवल वस्त्र नहीं है और न स्वदेशीका प्रचार करनेका साधन है। जिस देशका लक्ष्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है वह गान्धीजीके नेतृत्वमें साम्प्रदायिकताकी तरह स्वदेशीमें अपनेको सङ्कीर्ण कैसे कर सकता था ! भारत ही नहीं, सारे संसारके लिए खादी और चर्खेका एक सार्वभौम स्वाभाविक सन्देश है—प्रकृतिकी ओर लौटो, गाँवोंकी ओर लौटो !

ग्रामोद्योग और यन्त्रोद्योग

अपने मन्तव्यमें जवाहरलालजी किसी हद तक खादी और चर्खेकी सामाजिक अथवा नैतिक उपयोगिता (शहरवालों और गाँववालोंके बीचकी खाईको पाटनेमें कुछ कामयाबी) के रूपमें स्वीकार करते हैं, किन्तु उसकी चिरकालिक आर्थिक उपयोगिता (प्राकृतिक ग्रामीण अर्थव्यवस्था) को स्वीकार नहीं करते। वे लिखते हैं—"गाँवोंके धन्धोंका पुनरुद्धार करनेकी जो कोशिश गान्धीजी कर रहे हैं वह उनके खादीवाले कार्यक्रमका ही विस्तार है। उससे तात्कालिक लाभ होगा, कुछ अंशोंमें तो स्थायी और शेष अधिकांश थोड़े दिनोंके लिए। वह गाँववालोंकी मौजूदा मुसीबतमें उनकी मदद करेगा और कुछ ऐसे सांस्कृतिक और कला-कौशल-सम्बन्धी गुणोंको, जिनके नष्ट हो जानेकी आशङ्का थी, फिरसे ज़िन्दा कर देगा। लेकिन जिस हद तक यह कोशिश मशीनोंके और उद्योगवादके ख़िलाफ़ एक बग़ावत है, वहाँ तक उसे कामयाबी नहीं मिलेगी।"

नेहरूजीने भविष्यवाणी की थी—"हिन्दुस्तानमें खादीके धन्धेके इन सब फ़ायदोंके होते हुए भी ऐसा मालूम होता है कि वह संक्रमण-कालकी ही वस्तु हो सकती है। मुमकिन है कि इस कालके गुजर जानेके बाद भी वह एक सहायक धन्धेकी तरह चलती रहे, जिससे कि आर्थिक उच्च व्यवस्था (समाजवादी व्यवस्था) क़ायम होनेमें मदद मिले। लेकिन अब आगे तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्त्तमान व्यवस्थामें आमूल परिवर्त्तन करके औद्योगिक धन्धोंके प्रसारमें लगेगी।"—पचीस वर्ष पहलेका यही मन्तव्य आज वर्त्तमान स्वतन्त्र भारतमें कार्यान्वित हो रहा है। प्रधानमन्त्री नेहरूजीकी कांग्रेसी सरकार 'कृषि-सम्बन्धी व्यवस्थामें आमूल परिवर्त्तन' और 'औद्योगिक धन्धोंके प्रसार'में लगी हुई है।

नेहरूजी तो स्वयं खादीधारी हैं और स्वतन्त्रता-संग्राममें गान्धीजीके तेजस्वी अनुयायी रहे हैं, फिर उनके ग्रामीण कार्यक्रमसे आश्वस्त क्यों नहीं हैं? जैसा कि ऊपर कहा है—नेहरूजी एक योद्धा भी हैं, अपनी संघर्ष-प्रियताका सर्वोत्तम उपयोग गान्धीजीके नेतृत्वमें ही जानकर वे असहयोग-आन्दोलन (स्वतन्त्रता-संग्राम) में आ गये थे और उस 'संक्रमण-काल' में उनका जो वैज्ञानिक मस्तिष्क अपने आपमें अवरुद्ध था वह अनुकूल अवसर पाकर अब उभर आया है, सक्रिय हो उठा है।

बृटिश शासन-कालमें खादी और तदनुरूप अन्य ग्रामीण कार्यक्रम पराधीनतासे मुक्तिका राष्ट्रीय मन्त्र था, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओंके समाधानमें उसका दृष्टिकोण ओझल था। गान्धीजी जीवित होते तो स्वतन्त्र भारतमें उस ग्रामीण कार्यक्रम द्वारा अन्य देशोंका भी पथप्रदर्शन करते। आज जब वे नहीं हैं, तब गान्धीजी तथा सर्वोदयके कार्यकर्त्ताओंके सामने जवाहरलालजी एक ज्वलन्त प्रश्नचिह्न हैं। अपनी आत्मकथाके शब्दोंमें, जवाहरलालजी मानो आज भी कहते हैं—"हमलोग बाक़ी दुनियासे उसी तरह बँधे हुए हैं जैसे दूसरे मुल्क बँधे हुए हैं और मुझे यह बात बिलकुल ग़ैरमुमकिन मालूम देती है कि हम उनसे अलग

होकर रह सकें। इसलिए हमें सब बातोंको तमाम दुनियाकी निगाहसे देखना होगा और इस दृष्टिसे देखनेपर सङ्कुचित स्वाश्रयी व्यवस्था (ग्रामीण-व्यवस्था) की कल्पना ही नहीं हो सकती। जाती तौरपर मैं तो उसे सब दृष्टियोंसे अवाञ्छनीय समझता हूँ।"

कारावास-कालके एकान्त-चिन्तनमें जो औद्योगिक प्रश्न उनके मनमें उठते रहते थे वे आज भी अपना समाधान चाहते हैं। अभी कुछ समय पहिले ग्रामोद्योगों और यन्त्रोद्योगोंके प्रसङ्गमें नेहरूजीने पूछा था— ग्रामोद्योगोंसे रेल, तार, हवाई जहाज कैसे बन सकते हैं? अपनी आत्म-कथामें उन्होंने स्वयं ही जवाब दिया है—"जबतक हम गाँवके धन्धोंको आजकलकी किसी औद्योगिक यन्त्रकलाके साथ नहीं मिलायेंगे तबतक तो हम आज जिन भौतिक और सांस्कृतिक चीजोंकी लाजिमी तौरपर हमें जरूरत है उन्हें भी पैदा नहीं कर सकेंगे।.......अगर हमारे यहाँ रेल, पुल, आवागमन वगैरहकी सहूलियतें वगैरा रहें, तो या तो हमें खुद ये चीजें बनानी पड़ेंगी या दूसरोंपर निर्भर रहना होगा।"

जवाहरलालजी गाँवोंकी उपेक्षा नहीं कर रहे हैं, वे गांवोंके उद्योग-धन्धोंको आजकलकी किसी यन्त्र-कलासे मिलाना चाहते हैं। यही उनका बीचका रास्ता है।

जवाहरलालजी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिसे सोचते और क़दम उठाते हैं, इसीलिए उनका दृष्टिकोण सर्वथा भारतीय अथवा ग्रामीण नहीं हो जाता। सम्प्रति जैसे भारतकी स्वतन्त्रता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिसे सम्बद्ध है, वैसे ही यहाँकी आर्थिक समस्या भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारसे अनुबद्ध है। अपनी आत्मकथामें उन्होंने कहा है—"गांवोंकी तरक्की करनेवालोंको जिस दूसरी मुश्किलका सामना करना है वह यह है कि हमारी खेती दुनियाके बाजारपर मुनहसिर है।"—यही कारण है कि भारत पराधीनताके समयसे ही अमेरिकाके डॉलरका मुँह जोहता है।

विनोबाजीने अपने एक प्रवचनमें कहा था—"आज किसानोंके दो

ईश्वर हो गये हैं। आजतक एक ही ईश्वर था। किसान आकाशकी तरफ़ देखता था। लेकिन आज चीज़ोंके भाव ठहरानेवाले ईश्वरकी तरफ़ भी देखना पड़ता है, इसीको आसमानी सुलतान कहते हैं। आसमान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफ़ाजत करे। परमात्मा खूब फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओंको (एक आकाशका और दूसरा अमेरिकाका) किसानको पूजना पड़ता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान् काम नहीं आयेंगे। गान्धीजी कहते हैं, ऊपरवाले ईश्वरको बनाये रखो और दूसरे देवताको छोड़ो। एक ईश्वर बस है।"

प्रश्न यह है कि क्या आकाशका देवता भी इस वैज्ञानिक युगमें सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र है, क्या वैज्ञानिक प्रयोगोंसे बादलोंकी गतिविधिमें परिवर्त्तन नहीं हो गया है ? आज विज्ञान और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारने सभी देशोंके सामने जो वातावरण और आर्थिक प्रश्न उपस्थित कर दिया है, उसके समाधानका मौलिक प्राकृतिक मार्ग क्या है ? गान्धी-वादियोंको इसके समाधानमें अपनी रचनात्मक प्रतिभाका परिचय देना चाहिए।

जवाहरलालजीके सामने विज्ञान और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके कारण कोई द्वन्द्व नहीं है। वे निश्चित रूपसे आधुनिक युगकी ओर उन्मुख हैं और देश-कालका अनुसरण कर रहे हैं। औद्योगिक देशोंकी तरह ही भारतका जीवन भी वैज्ञानिक स्तरपर देखना चाहते हैं। अपनी आत्मकथामें उन्होंने गान्धीजीके ग्रामीण आदर्शकी आलोचना करते हुए कहा है—"किसानोंकी-सी सादी जिन्दगीका आदर्श मुझे ज़रा भी अच्छा नहीं लगता। मैं तो क़रीब-क़रीब उससे घबड़ाता-सा हूँ और खुद उनकी-सी जिन्दगी बरदाश्त करनेके बदले मैं तो किसानोंको भी उस जिन्दगीमेंसे खींचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूँ—उन्हें शहरी बनाकर नहीं, बल्कि देहातोंमें शहरोंकी सांस्कृतिक सुविधाएँ पहुँचा कर।"—आज वे यही कर रहे हैं।

साधन और साध्य

क्या नेहरूजीकी नैतिक आस्था समाप्त हो गयी है ? क्या अब उनमें कोई संघर्ष नहीं है ?

नेहरूजीमे नैतिक आस्था अब भी बनी हुई है, तभी तो वैज्ञानिक उन्नतिके साथ ही वे नैतिकताका भी ध्यान दिलाते रहते हैं। किन्तु उनका कहना है—"नैतिक दृष्टिसे उच्च रहनेके लिए भी साधनकी कम-से-कम उतनी ही जरूरत है जितनी कि शरीरको अच्छी हालतमें रखनेके लिए। लेकिन सचमुच इसके मानी न तो सीमारहित संयम हैं और न आत्म-पीड़न ही हैं।"

समुचित संयम अथवा नैतिकताके लिए वे विज्ञानको साधनके रूपमें अपनाना चाहते हैं। इस रूपमें वह उन्हें बाधक नहीं जान पड़ता। कुछ समय पहिले उन्होंने कहा था—"वैज्ञानिक प्रगति और कृत्रिम चाँदका समस्याओंके हलके नैतिक तरीकोंपर कोई असर नहीं पड़ सकता। वैज्ञानिक प्रगतियाँ अच्छी चीजोंको बुरी और बुरी चीजोंको अच्छी नहीं बना सकतीं।"—क्या सचमुच वैज्ञानिक प्रगतियाँ नैतिकताको विचलित नहीं करतीं ? जहाँ तक साधन और साध्यका सम्बन्ध है, विज्ञानको एक साधनके रूपमें अपना लेनेपर बौद्धिक दृष्टिसे नेहरूजीके सामने दोनोंमें कोई संघर्ष नहीं है। किन्तु संस्कृति और राजनीतिको लेकर उनमें अब भी अन्तर्द्वन्द्व बना हुआ है।

नेहरूजी नैतिकताको भी स्थूल दृष्टिसे देखते हैं, जैसे राजनीतिमें पञ्चशील और सह-अस्तित्वको। किन्तु नैतिकता एक सूक्ष्म मानसिक भावना है। हाँ, वह स्थूल साधनोंसे ही जगती है, स्थूल रूपमें साधन ऐसे होने चाहिए जो सूक्ष्मको जाग्रत कर दें। यहींपर गान्धीवादी दृष्टिसे साध्यके लिए साधनकी समीचीनता विचारणीय है। जैसा कि नेहरूजीने कहा है—"नैतिक दृष्टिसे उच्च रहनेके लिए भी साधनकी कम-से-कम उतनी जरूरत

है जितनी कि शरीरको अच्छी हालतमें रखनेके लिए;"—तो हमें ऐसा साधन चाहिए जिससे शरीरका पोषण भी हो और मनुष्यका नैतिक उन्नयन भी हो। खादी भी एक ऐसा ही साधन है, नेहरूजीने भी स्वीकार किया है—"खादीका सबसे अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है।"

यहाँ खादीके औद्योगिक परिणामपर विस्तारपूर्वक विचार करनेके लिए पर्याप्त स्थान नहीं है, किन्तु यदि उससे किसी स्थितिमें अच्छा मानसिक परिणाम सम्भव है तो अच्छा औद्योगिक परिणाम भी असम्भव नहीं है। जिस स्वाश्रयी ग्रामीण व्यवस्थासे नेहरूजीका मतभेद है, खादी उसी व्यवस्थाका औद्योगिक प्रतीक है। वह स्वाश्रयी व्यवस्था सङ्कीर्ण स्वार्थसे नहीं उत्पन्न हुई थी, बल्कि सामाजिकताके निर्माणमें प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वर्गके सहयोगसे स्थापित हुई थी। वह सर्वोदयके लिए थी। उसका अभिप्राय है—अपनी-अपनी क्षमताके अनुसार स्वावलम्बी श्रम और परस्पर-सहयोग अथवा सह-अस्तित्व। उसमें व्यापारिक प्रतियोगिता नहीं थी। यद्यपि सम्राटों और सेठोंके ऐश्वर्य-भोगके लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी होता था, किन्तु गाँव आजकी तरह नगरोंके बाजारोंपर निर्भर नहीं थे। गान्धीजी उसी स्वाश्रयी व्यवस्थाकी ओर लौटना चाहते थे, खादीको एक बाजारू रोजगारके रूपमें नहीं देखना चाहते थे, प्रत्येकके लिए चर्खा चलाना आवश्यक समझते थे; शायद इसी तरह कृषिके स्वावलम्बनके लिए भी कुछ सुझाव देते। वर्तमान वैज्ञानिक और औद्योगिक परिस्थितिमें उनका प्रयत्न कहाँ तक सफल होता, यह विवादास्पद विषय है। किन्तु पराधीनताके युगमें भी जैसे खादी और अहिंसाके द्वारा उन्होंने भारतके स्वावलम्बनका प्रयत्न किया, वैसे ही वर्तमान कठिनाइयोंमें भी वे कोई ऐसा प्रयत्न करते जो अन्य देशोंके लिए भी अनुकरणीय हो जाता।

यदि गान्धीजी जीवित होते तो उनके सामने भी बेकारी, जनसंख्या, खाद्यान्न और जमीनकी कमीकी समस्या उपस्थित होती। किन्तु उद्योगवादसे भी समस्या कहाँ सुलझ रही है, वह तो और भी जटिल होती जा रही है।

गान्धीजी खाद्यान्नके लिए बगीचोंको भी खेत बना देना चाहते थे। उद्योग-वादके कारण बगीचे और खेत भी कल-कारखानों और नये-नये मकानोंके लिए मिटते जा रहे हैं। गान्धीवाद और उद्योगवादमें यह कैसा जीवन-मरण-जैसा वैपरीत्य है! खेतों और बगीचोंकी जो ज़मीनें खतम होती जा रही हैं उनकी क्षतिपूर्ति कैसे हो सकेगी? कालान्तरमें उद्योगवादके सामने बड़ी भीषण समस्या उपस्थित हो जायगी। आगे-पीछे संसारके सभी देशोंको साधनके रूपमें भी गान्धीवादका अनुशीलन करना पड़ेगा।

मध्ययुगोंमें यदि साम्राज्यवाद और सामन्तवादके कारण विषम सम-स्याएँ थीं तो आज प्रकृतिसे असहयोगके कारण नयी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। मनुष्योंपर आधिपत्य स्थापित करके जैसे आज भी पूँजीवाद उसका शोषण करता है वैसे ही प्रकृतिपर आधिपत्य स्थापित करके विज्ञान यन्त्रों-द्वारा प्रकृतिका शोषण कर रहा है। जीवोंके शरीरकी तरह प्रकृति भी एक सजीव सत्ता है। जीवोंको जिलानेके लिए प्रकृतिको भी जीवन मिलना चाहिए। शोषणसे शरीर जैसे निःसत्त्व हो जाता है वैसे ही प्रकृति भी निःसत्त्व हो जाती है। प्रकृतिका पोषण प्रकृतिके अनुकूल पुरुषार्थसे ही हो सकता है। प्राणी जब अपने ही शरीरकी सजीव सामर्थ्यके अनुसार उद्योगों में प्रकृतिका सदुपयोग करता है तब वह भी अपनी स्वाभाविक सजीवतासे उसे सहयोग देती है, जैसे माता शिशुको। दोनोंमें आदान-प्रदानका अनुपात बना रहता है।

यान्त्रिक शक्तिसे उत्पादन तो बढ़ जाता है किन्तु प्रकृतिका सन्तुलन लड़खड़ा जाता है। प्रकृतिका सन्तुलन बनाये रखनेके लिए ही गान्धीजी ग्रामीण पुरुषार्थको अग्रसर करते थे। प्रकृति यदि केवल जड़ पदार्थ होती तो वैज्ञानिक उद्योगोंसे काम चल जाता, किन्तु हमारी संस्कृतिमें प्रकृति ऐसी दिव्य विभूति है जो पुरुषार्थमें अन्नपूर्णा है और उपासनामें प्रज्ञा है, तभी तो उससे स्थूल साधन और सूक्ष्म साध्य (अध्यात्म) दोनों उपलब्ध हो जाते थे। मनुष्यको यदि जीवित रहना है तो प्रकृतिको पुनः उसके

सचेतन रूपमें प्रतिष्ठित करना चाहिए। दार्शनिक उपराष्ट्रपति राधाकृष्णन् ने अभी हालमें कहा है—"आजका जगत् आध्यात्मिकतासे शून्य होता जा रहा है। हमें प्रकृतिके साथ समझौता करना होगा।"

क्रियात्मक प्रभाव

यद्यपि जवाहरलालजीकी प्रवृत्ति वैज्ञानिक है तथापि साध्यके अनुरूप साधनका क्रियात्मक प्रमाण मिल जानेपर वे उसकी सार्थकताका भी समर्थन करते हैं। अपनी आत्मकथामें वे गान्धीजीकी अहिंसाके प्रसङ्गमें लिखते हैं—"राजनीतिको आध्यात्मिकताके (तंग और मजहबी मानेमें नहीं) साँचेमें ढालना मुझे एक उमदा खयाल मालूम हुआ। निःसन्देह एक उच्च ध्येयको पानेके लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिए—यह एक अच्छा नीति-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि निर्भ्रम व्यावहारिक राजनीति भी थी; क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते वे अक्सर हमारे उद्देश्यको ही विफल बना देते हैं।"—साधनकी दृष्टिसे यह बात राजनीतिके लिए ही नहीं, उद्योगोंके लिए भी कही जा सकती है। किन्तु नेहरूजी जैसे मार्क्सवादको देश-कालका विचार किये बिना सब जगह और सब समय लागू करना उपयोगी नहीं मानते, वैसे ही गान्धीवादको भी। वे परिस्थिति और समाजका ध्यान रखते हैं। किसी एक विचारसे बँधे हुए नहीं हैं, इसीलिए सभी विचारोंको समझनेका प्रयत्न करते हैं; उनका मस्तिष्क ठस नहीं, उसमें स्पेस है। जो विचार जँच जाता है उसे यथाशक्ति और यथाबुद्धि कार्यान्वित करते हैं।

वास्तविकतावादी होते हुए भी जवाहरलालजीमें भौतिकवादकी जड़ता नहीं है। उनमें वह सजीव संवेदना है जिससे सूक्ष्म चेतना (आध्यात्मिक चेतना अथवा प्राणिचेतना) का प्रादुर्भाव होता है। इंगलैण्डसे जब वे शिक्षा प्राप्त करके स्वदेश आये तब वैज्ञानिक विचारोंके नवयुवक होते हुए भी उनका भावात्मक मानवीय संस्कार (उन्नीसवीं सदीका उदार मानवता-

वादी संस्कार) बना हुआ था। उस समय अपने मस्तिष्क और हृदयके अनुरूप कार्यक्षेत्र न मिलनेके कारण उनका मन इधर-उधर भटक रहा था। अपनी आत्मकथामें वे लिखते हैं—"शिकार-जैसे दूसरे कामोंमें मैंने अपना जी बहलाना चाहा लेकिन उसकी तरफ़ मेरी ख़ास रग़बत या झुकाव न था.........शिकारके लिए मेरे मनमें जो थोड़ा-बहुत उत्साह था वह भी एक छोटे-से बारहसिंगेके साथ जो घटना हुई उससे ठण्डा पड़ गया। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोटसे मरकर मेरे पैरोंपर गिर पड़ा और अपनी आँसू-भरी बड़ी-बड़ी आँखोंसे मेरी तरफ़ देखने लगा। तबसे उन आँखोंकी मुझे अक्सर याद आ जाती है।"

ऐसे सहृदय जवाहरलालजीको गान्धीजीके सत्याग्रह-संग्राममें अपने अनुकूल कार्यक्षेत्र मिल गया। उनकी अहिंसाको उन्होंने धार्मिक दृष्टिसे नहीं, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे हृदयङ्गम किया। अपनी आत्मकथामें वे लिखते हैं—"इस बातमें कोई शक नहीं हो सकता कि प्रेमकी पुकार और स्वयं कष्ट सहनके अस्त्रका विपक्षी और साथ ही दर्शकोंपर बहुत ही जबरदस्त मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। बहुत-से शिकारी यह जानते हैं कि हम जंगली जानवरोंके पास जिस दृष्टिसे जाते हैं वैसा ही उनपर असर हो जाता है। वह जानवर दूरसे ही भाँप लेता है कि आप उसपर हमला करना चाहते हैं और उसीके अनुसार अपना रवैया अख़्त्यार करता है। इतना ही नहीं; यदि आदमी खुद किसी जानवरसे डरे, फिर चाहे उसे महसूस न भी हो, तब भी उसका वह डर किसी तरह जानवरके पास पहुँच जाता है और उसे भयभीत कर देता है और इसी भयकी वजहसे वह हमला कर बैठता है। अगर शेरोंको पालनेवाला ज़रा भी डर जाय तो उसपर हमला किये जानेका ख़तरा फ़ौरन पैदा हो जाता है। एक बिलकुल निर्भय आदमी किसी अज्ञात दुर्घटनाके सिवा शायद ही कभी किसी हिंसक पशुके ख़तरेका शिकार होता हो। इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मानव-प्राणी इन मानसिक प्रभावोंसे प्रभावित हो।"

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे निर्भयता एक मनोबल हो सकती है, किन्तु उस रूपमें वह सहज स्वाभाविक नहीं, दुरूह है; बौद्धिक प्रयास है। निर्भयता ही नहीं, जीवनकी सभी सद्प्रवृत्तियाँ हार्दिक अथवा अनायास भी जागरूक हो सकती हैं, उत्सकी तरह स्वतः फूट सकती हैं, जैसे सरल शिशुकी भावनाएँ। अध्यात्म यही अनायास मर्मोद्रिक है। किन्तु जवाहरलालजी स्वयं शिशु होते हुए भी अपनी अकादमिक शिक्षाके कारण अहिंसा ही नहीं, सभी प्रवृत्तियोंको 'मेकेनाइज' करके देखते हैं। जो सत्य उनके फार्मूलेमें नहीं ढल पाता उसे स्वीकार करनेमें उन्हें दुविधा होती है। फिर भी उनमें दुराग्रह नहीं, जिज्ञासा है। वे प्रत्येक बातका क्रियात्मक दृष्टान्त चाहते हैं; बातोंसे नहीं, कामोंसे सबक लेते हैं। ग़लती वे भी कर सकते हैं, किन्तु उनकी ग़लतीमें भी ऐसी ईमानदारी है जो आरामपसन्द बड़े-बड़े समझदारोंको परास्त कर देती है। उनकी ईमानदारीके कारण ही गान्धीजी उन्हें अपना उत्तराधिकारी बना गये हैं। वे कहा करते थे—जब तक मैं हूँ, जवाहरलाल मुझसे लड़ता है। जब मैं नहीं रहूँगा, जवाहरलाल काम मेरा ही करेगा।

गान्धीजीके बाद वर्त्तमान परिस्थितियोंमें नेहरूजीको अपनी जिज्ञासाओंका समाधान नहीं मिल रहा है, कोई भी उन्हें प्रभावित नहीं कर पा रहा है। सबके बीचमें भी वे अकेलापन अनुभव करते हैं, इसीलिए बुजुर्गोंके बिछुड़ जानेपर बच्चोंकी तरह बिलखने लगते हैं। या तो भूलते-भटकते वे स्वयं ही अपनी ईमानदारीसे सही रास्ता पा जायँगे, या जैसे भारतकी स्वतन्त्रतासे उन्होंने रक्तहीन क्रान्तिका सबक़ लिया वैसे ही कोई क्रियात्मक दृष्टान्त पाकर लोकनिर्माणके लिए उसे अपना लेंगे। कांग्रेस-द्वारा पद-यात्राका निर्णय शुभ लक्षण है। नेहरूजीकी दुविधाकी मनःस्थिति बहुत दिनों तक नहीं चल सकती, निकट भविष्यमें निश्चय उनमें अभूतपूर्व परिवर्त्तन होगा।

भावी भारत

नेहरूजी स्वप्नदर्शी हैं, वे अपने स्वप्नोंका चित्रपट खोज रहे हैं। भूत, वर्तमान, भविष्य, किस युगमें उनके स्वप्नोंका चित्रपट है?

समयके विभक्त खण्डोंमें उनका चित्रपट नहीं है। वे एक और अखण्ड जीवनको प्यार करते हैं, सृष्टिमें सदैव उपस्थित रहना चाहते हैं। अपनी आत्मकथामें बचपनकी वर्षगाँठको स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा है—"मुझे इस बातका बड़ा दुःख था कि वर्षगाँठ सालमें एक बार ही क्यों आती है? वास्तवमें मैंने इस बातका आन्दोलन करनेकी कोशिश की कि वर्षगाँठके मौक़े बरसमें एक बार ही क्यों, और अधिक बार क्यों न आया करें? उस वक़्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयेगा जब ये वर्षगाँठें हमको अपने बुढ़ापेकी दुःखदायी याद दिलाया करेंगी।"

भविष्यके स्वप्नदर्शी होते हुए भी जवाहरलालजीको ज्योतिषपर विश्वास नहीं है। आकाशके नक्षत्रोंसे भविष्यकी भाग्य-गणना करनेका खण्डन करते हुए उन्होंने कहा था—मैं भविष्यको पृथ्वीके सितारों-(शिशुओं) में देखता हूँ।

एक बार उनसे पूछा गया था—पूर्णिमाका चाँद आपको कैसा लगता है?

उन्होंने कहा—पूर्णिमाका चाँद मुझे अच्छा नहीं लगता, क्योंकि उसके बाद वह ढलने लगता है। मुझे दूजका चाँद अच्छा लगता है।

अपने विगत शैशवको प्रत्यक्ष देखते रहनेके लिए और अपने बाद भी उत्तरोत्तर नयी पीढ़ियोंमें जीवित रहनेके लिए नेहरूजीने अपनी वर्षगाँठको शिशु-जयन्तीमें परिणत कर दिया है। उनका जन्म-दिवस बाल-दिवस है, उस अवसरपर पृथ्वीपर ही 'दूजके चाँदों' का कैसा सुहावना मेला लग जाता है! आज जवाहरलाल वयोवृद्ध भले ही हों, किन्तु अगणित शिशुओं-में वे ही हँस-खेल रहे हैं। जहाँ-जहाँ शिशु हैं वहाँ-वहाँ जवाहरलाल हैं।

माताएँ अपने शिशुओंमें उनका भी शैशव पा जाती हैं। कविके शब्दोंमें—
"जननि तुम्हारा मुख शिशुओंमें करतीं चुम्बन।"

आज जवाहरलालजीके विगत शैशव और वयोवृद्ध शरीरमें जैसे समय-का अन्तर पड़ गया है, वैसे ही इतिहासके भूतकाल और वर्त्तमानकालमें भी। स्वभावतः वे भूतकालको चाहते हैं। कहते हैं—"हमारे प्रयासमें निष्ठा, उत्साह और ओज होना चाहिए, किन्तु अतीतसे बराबर प्रेरणा भी लेनी चाहिए। उससे ही हमें शक्ति मिलेगी। विज्ञान आज जीवनके हर क्षेत्रमें घुस गया है, इसलिए विज्ञानकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु इससे भी बढ़कर बात यह है कि युग-युगसे भारत जिसके लिए भारत रहा है उसे भी हम न भूलें।"

जवाहरलालजी केवल जीवन नहीं, नवजीवन चाहते हैं। शैशव और संस्कृति उन्हें एक-से ही प्रिय हैं। भूतकाल उनके लिए मृत अतीत नहीं, बल्कि संस्कृतिका उज्जीवित उदय-काल है। वर्त्तमान वैज्ञानिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियोंको पारकर भूतकाल ही उनके स्वप्नोंका भविष्य हो जायगा। उस भविष्यको आज भी नेहरूजीके ओठोंपर बच्चोंकी तरह मुसकराते हुए देखा जा सकता है।

काशी,
२ अप्रैल, १९५९

नेहरूजीकी काव्यानुभूतियाँ

जो लोग नेहरूजीको केवल सार्वभौम राजनीतिक नेताके रूपमें जानते हैं, उन्हें यह विषय नया लगेगा। किन्तु नेहरूजीने अपनी आत्मकथा-('मेरी कहानी') में प्रसङ्गानुसार अनेक काव्य-पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं जिनमें उनके स्वगत क्षणोंकी प्रतिध्वनियाँ सुनायी पड़ती हैं। ये उद्धृत काव्य-पंक्तियाँ किसी वक्ता अथवा विचारककी केवल बौद्धिक युक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि स्पन्दनशील मानवकी हार्दिक समवेदनाएँ भी हैं।

इन उद्धरणोंमें किसी आधुनिक भारतीय कविकी पंक्तियाँ नहीं हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि नेहरूजीने अपनी आत्मकथा उस बृटिश शासन-कालमें लिखी है जब देशमें स्वाधीनताका आन्दोलन चल रहा था और शासनकी ओरसे उसका घोर दमन किया जा रहा था। केवल आंग्ल कवियोंकी ही पंक्तियाँ शायद इसीलिए उद्धृत की गयी हैं कि बृटिश शासक यदि भारतकी आवाज नहीं सुन सकते तो अपने सजातीय कवियोंकी कवितासे ही मानवताकी आवाज़ सुन सकें, गुन सकें।

नेहरूजीकी आत्मकथामें जैसे किसी भारतीय कविकी पंक्तियाँ नहीं हैं वैसे ही किसी रोमैण्टिक अंग्रेजी कविकी भी पंक्तियाँ नहीं हैं। क्या उन्होंने पढ़ी नहीं ? ऐसा कैसे कहा जा सकता है ! रवीन्द्रनाथके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें वे रह चुके हैं, अंग्रेजीके रोमैन्टिक कवियोंसे भी उनकी कृतियों-द्वारा मानसिक सम्पर्क स्थापित कर चुके हैं। श्री नयनतारा सहगल-(नेहरूजीकी भान्जी) ने अपने जीवन-संस्मरणमें लिखा है, बाइरनके बजाय शेली उन्हें पसन्द है।

शेली मानवताके उज्ज्वल भविष्यका स्वप्नदर्शी था। नेहरूजी भी स्वप्नदर्शी हैं, किन्तु वे स्वप्नको कर्ममें साकार देखना चाहते हैं, कल्पना-

को जीवन देना चाहते हैं, भविष्यको वर्त्तमान बनाना चाहते हैं। कविता-को केवल कविताके लिए नहीं पढ़ना चाहते। यह क्यों? इसका उत्तर उपन्यासोंके सम्बन्धमें उनके इस मन्तव्यसे मिल जाता है—"उपन्यास पढ़नेसे दिमाग़में एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है।"

—केवल कलात्मक होकर कदाचित् कविता भी नेहरूजीके लिए उपन्यास मात्र रह जाती है।

अपनी आत्मकथामें नेहरूजीने रोमैण्टिक कवियोंकी पंक्तियाँ क्या इसलिए भी नहीं उद्धृत की हैं कि वातावरण उसके अनुकूल नहीं था? किन्तु उसी वातावरणमें गान्धीका अध्यात्मवाद और रवीन्द्रनाथका छायावाद (रोमाण्टिसिज़म) सजीव हुआ। नेहरूजीको न तो गान्धीजीके अध्यात्म-पर आस्था है, न कवियोंके रोमाण्टिसिज़्मपर। अपने मानवतावादी दृष्टिकोणमें वे आदर्शवादी हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोणमें यथार्थवादी हैं। ठोस पढ़ना और ठोस गढ़ना चाहते हैं। गान्धी और रवीन्द्रयुगके वाता-वरणको भी बदलना चाहते हैं और रचनात्मक प्रक्रियाको भी बदलना चाहते हैं, इसीलिए जैसे मध्ययुगको स्वीकार नहीं करते, वैसे ही चरखा और खादीको भी नहीं स्वीकार करते। कहा जा सकता है, वे प्रगति-वादी हैं।

कदाचित् नेहरूजीको किसी 'वाद' के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, उनका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। यद्यपि उनका व्यक्तित्व सार्वजनिक हो गया है, विन्दुसे सिन्धु हो गया है, सब्जेक्टिवसे ऑब्जेक्टिव हो गया है, तथापि व्यक्तित्वके साथ व्यक्तिका वह तन-मन तो है ही जो विश्वके भीतर उसी तरह हर्षित-विमर्षित होता है जैसे समष्टि सृष्टिके भीतर कोई प्राकृतिक प्राणी। इसीलिए वे भावना-शून्य नहीं हैं, उनके मर्मस्थलमें भी रागोद्रेक-भावोद्रेक-रसोद्रेक होता है। वक्षस्थलपर कठोर वास्तविकता झेलते हुए भी वे कोमलता और सुघरताकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। छायावादी कवियोंकी तरह उनका भी रागात्मक तादात्म्य प्रकृतिके साथ

स्थापित हुआ है। अपनी आत्मकथाके आरम्भिक पृष्ठोंमें अपनी पहिली काश्मीर-यात्राको याद करते हुए उन्होंने वाल्टर डि ला मेयरकी इन (अनूदित) पंक्तियोंमें अपने स्मृत-विभोर हृदयकी साँस ली है—

मेरे अन्तर्पट पर इन गिरिश्रृङ्गोंकी पड़ती छाया,
सान्ध्य गुलाबोंसे रञ्जित है जिनकी भीषण दुर्गमता;
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलकोंपर बैठे अकुलाते,
शान्त शुभ्र हिमके ये प्यासे, है कैसी पागल ममता !"

'गिरिश्रृङ्गोंकी भीषण दुर्गमता' की तरह क्या नेहरूजीके जीवनकी बीहड़ता भी 'सान्ध्य गुलाबोंसे रञ्जित है' ? नहीं, बृटिश-कालके बन्दी जीवनके बाद आज भी उनका जीवन विश्वकी समस्याओंसे अत्यन्त क्लान्त है; फिर भी उनके बटनहोलमें गुलाबका फूल उनके भावात्मक हृदयको *प्रत्यक्ष करता है, बहिर्जगत्में उनके अन्तर्जगत्का प्रतिनिधित्व करता है।* वह प्रकृतिके साथ उनके रागात्मक सम्बन्धका प्रतीक भी है।

अतीतके बन्दी जीवनमें उन्होंने प्रकृतिके दृश्यावलोकनमें अपने एकाकीपनको भुलाया है। लखनऊ-जिला जेलके संस्मरणमें वे लिखते है—"खुले हिस्सेमें लेटकर मैं आकाश और बादलोंको निहारा करता था; और जितना पहले कभी नहीं किया इतना महसूस करने लगा कि ये बादल कितने गजबके सुन्दर-सुन्दर रंग बदलते हैं :

अहो ! मेघमालाओंका यह पल-पल रूप पलटना,
कितना मधुर स्वप्न है लेटे-लेटे इन्हें निरखना !"

गुलाबके फूल और रंगीन बादलके आकर्षणसे ज्ञात होता है कि चित्रकारोंकी तरह ही नेहरूजीको भी रंगोंसे प्रेम है।

केवल प्रकृतिकी शोभाने ही नहीं, उसकी प्राणवन्त क्रियाशीलताने भी नेहरूजीको आकर्षित किया है। उनके जैसे सक्रिय व्यक्तिके लिए यह स्वाभाविक है। देहरादून-जेलमें उनका ध्यान ऋतुओंके परिवर्त्तनकी ओर गया। वे लिखते हैं—"देहरादूनमें वसन्त ऋतु बड़ी सुहावनी होती है और नीचेके मैदानोंके बनिस्बत ज्यादा समय तक रहती है। जाड़ेने प्राय: सब पेड़ोंका पतझड़ कर दिया है और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गये हैं। जेलके फाटकके सामने जो चार विशाल पीपलके पेड़ हैं, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने क़रीब-क़रीब सब पत्ते नीचे गिरा दिये हैं और खङ्खड़ और उदास बन करके वहाँ वे खड़े हैं। फिर वसन्त ऋतु आती है और उसकी जीवनमय बयार उन्हें उत्साहित करती है और उनके ठेठ अन्दरके एक-एक जर्रेको जीवनका सन्देश भेजती है। तब सहसा, क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ोंमें, एक हलचल होती है और उनके आस-पास कुछ रहस्य-सा दिखाई पड़ता है, जैसे किसी परदेके अन्दर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही है और मैं तमाम पेड़ोंपर हरे-हरे अँखुओं और कोपलोंको उझक-उझककर झाँकते हुए देखकर चकित रह जाता। वह बड़ा ही हर्षपूर्ण और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेजीसे लाखों पत्ते उमड़ आते, सूर्यकी किरणोंमें चमकते और हवाके साथ अठखेलियाँ करते। एक अँखुएसे लेकर पत्तेतक यह रूपान्तर कितना जल्दी हो जाता है और कितना आश्चर्यजनक!"

—प्रकृतिकी इस नाटकीय लीलामें जनता और उसके जीवनके उतार-चढ़ावका भी दर्शन हो जाता है।

जैसा कि नेहरूजीने लिखा है—"प्रकृतिकी लीलामें कुछ रहस्य-सा दिखाई पड़ता है, जैसे किसी परदेके अन्दर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही है," किन्तु वे रहस्य और परदेमें अदृश्य 'प्रक्रिया' के प्रति कुतूहल रखते हुए भी आकर्षित दृश्यजगत्के प्रति हैं। रहस्य और अदृश्यको देख-समझ न पाने पर भी उन्हें उसका दिव्यदर्शन मानवके सात्त्विक मनोविकासमें

मिल जाता है। वे कहते हैं—"हममेंसे बहुत कम लोग इतने भाग्यशाली हैं जो—

पिण्ड में ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
वन-सुमन में स्वर्ग को हैं देखते;
अञ्जली में बाँधते निस्सीम को
एक पल से नापते चिरसीम को।

दुर्भाग्यसे, हममेंसे बहुतेरे प्रकृतिके रहस्यपूर्ण जीवनकी अनुभूतिसे दूर हैं। वह रहस्य-ध्वनि हमारे कानोंके पास तो गूँजती है, लेकिन हम सुन नहीं पाते। उसके स्पर्शके मधुर कम्पनका सुख नहीं उठाते। वे दिन अब चले गये; लेकिन चाहे अब हम पहलेकी तरह प्रकृतिकी दिव्यताके दर्शन न कर सकें, तो भी मानव जातिके गौरव और कारुण्यमें, उसके बड़े-बड़े स्वप्नों और आन्तरिक तूफानोंमें, उसकी पीड़ाओं और विकलताओंमें, उसके संघर्षों और विपत्तियोंमें, और इन सबसे बढ़कर एक महान् उज्ज्वल भविष्यकी आशामें तथा उन महत्त्वाकांक्षाओंकी प्राप्तिमें हमने उसे पानेका प्रयत्न किया है।"

मनुष्यके सात्त्विक निर्माणपर नेहरूजीको विश्वास है, किन्तु ईश्वरकी सृष्टिपर उनका विश्वास नहीं है। कविके शब्दोंमें उनके मनमें भी यह प्रश्न उठता है—

जब तारों ने अपनी झिलमिल किरणें डालीं जगती पर,
और गगन-मण्डल से उतरीं बूँदें रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठों पर ला सकता!
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिंह बना सकता?

नेहरूजी लिखते हैं—"परमात्माकी कृपालुतामें लोगोंकी जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है। किस प्रकार यह श्रद्धा चोटपर चोट खाकर भी जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुताका उलटा सबूत भी इस श्रद्धाकी दृढ़ताकी परीक्षाएँ मान ली जाती हैं! जेरार्ड हॉपकिन्सकी ये सुन्दर पंक्तियाँ अनेक हृदयोंमें गूँजती हैं—

सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मैं करूँ विवाद,
किन्तु नाथ मेरी भी है यह न्याययुक्त फरियाद :
फलते और फूलते हैं क्यों पापी कर-कर पाप ?
मुझे निराशा देते हैं क्यों सभी प्रयत्न-कलाप ?

—इस सांसारिक दुर्व्यवस्थाको बदलने और मनुष्यका आत्मविश्वास जगानेके लिए नेहरूजीकी नास्तिकता है। वे कहते हैं—

"विश्वास : उन्नतिमें, शुभकार्योंमें, आदर्शोंमें, मानवीय सज्जनतामें और मानव-भविष्यकी उज्ज्वलतामें। क्या ये सब परमात्माकी श्रद्धाके साथ मिलते-जुलते नहीं हैं?"

मनुष्यत्वकी साधनासे जैसे प्रकृतिकी रहस्यमयता पीछे छूट जाती है, वैसे ही ईश्वरकी दैवी सत्ता भी। लेकिन मनुष्यत्वकी साधना भी अभी है कहाँ! 'पञ्चशील' तथा 'सहअस्तित्व' स्वप्न बना हुआ है।

अलीपुर-जेल (कलकत्ता) न केवल बृटिश शासनका नरक था, बल्कि वर्त्तमान विश्वके विपण्ण वातावरणका वह मनहूस प्रतीक भी था। पिछली जेल-यात्राओंकी तरह नेहरूजीकी यह जेल-यात्रा उत्साहपूर्ण नहीं थी। दमनसे सरकारने देशमें मरघटकी-सी शान्ति स्थापित कर ली थी, उधर प्रकृतिने क्षुब्ध होकर बिहारमें भूक्रान्ति (भूकम्प) कर दी थी। सारी परिस्थितियोंके पुञ्जीभूत विषाद-सा अलीपुर-जेल नेहरूजीके लिए रोमाञ्चक हो गया।

कविके शब्दोंमें उन्होंने अनुभव किया—

फेंक यकायक कहाँ दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
कब तक यों टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरों पर ?
किधर खींच ले जावेंगे अब झोंकों के यह उलझे तार;
दिखता नहीं प्रदीप, न जाने कहाँ लगेगी किश्ती पार !

अलीपुर-जेलकी नीरसता और राष्ट्रीय प्रगतिकी शिथिलतासे नेहरूजी-में निराशा व्याप गयी। उनकी तत्कालीन मन:स्थितिका परिचय कविके इन उद्‌गारोंसे मिलता है—

अब तो यही लालसा है माँ ! जाऊँ आकुल लेट वहाँ,
ठंडा-ठंडा हरा सुमञ्जुल मधुर घास हो बिछा जहाँ;
माँ वसुधे ! चरणों पर तेरे निपट निराशा-अधीन,
परिश्रान्त इस बालक के वे स्वप्न सभी हो गये विलीन ।

देशकी जागृति और लक्ष्य ओझल हो जानेके कारण नेहरूजी नैनी जेल (इलाहाबाद) में भी दु:खी थे। उनकी अन्तर्वेदना कविकी इन पंक्तियोंमें उच्छ्‌वसित हो उठी थी—

होता है यह अरुण उषा का नूतन उदय निशा के बाद;
पर न हमारे जीवन के दिन पुन: लौटते हैं कर याद।
आँखों के भीतर बसता है क्षितिज दूर का सुषमावन्त;
किन्तु घाव अन्तर में गहरा कर जाता है निठुर वसन्त।

अपने स्वभावके सम्बन्धमें नेहरूजी लिखते हैं—"ख़ुशक़िस्मतीसे मैं बड़ा ख़ुशमिजाज हूँ और मायूसीके हमलोंसे बड़ी जल्दी सम्हल जाता हूँ।"

नेहरूजीने अपनी आत्मकथा अलमोड़ा-जेलमें १४ फरवरी सन् १९३५ में समाप्त की थी। तबसे अबतक इतिहास कहांसे कहाँ चला गया! नेहरूजी अवकाश पाकर यदि कभी अपनी आत्मकथाको आगे बढ़ायें तो उनके विचार, उनके उद्गार, उनके भाव क्या होंगे! आत्मकथा-के अन्तिम पृष्ठोंमें उन्होंने कहा है—"अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभवके साथ मुझे अपने जीवनको फिरसे दुहरानेका मौक़ा मिले तो इसमें कोई शक़ नहीं कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवनमें अनेक तबदीलियाँ करनेकी कोशिश करूँगा, जो कुछ पहले मैं कर चुका हूँ, उसको कई तरहसे उन्नत करनेका प्रयत्न करूँगा; लेकिन सार्वजनिक विषयोंमें मेरे निर्णय ज्योंके त्यों बने रहेंगे।........"

शुरूसे ही साम्यवाद और संस्कृति नेहरूजीका सार्वजनिक लक्ष्य है। साम्यवाद और संस्कृति? दोनोंमें विरोधाभास जान पड़ता है, क्योंकि एक-से आधुनिकताका और दूसरीसे प्राचीनताका आभास मिलता है। साम्य-वाद स्थूल राजनीतिक जान पड़ता है, संस्कृति सूक्ष्म आध्यात्मिक जान पड़ती है। राजनीति और अध्यात्म दोनोंमें यदि जीवन है तो देश-काल और स्थूल-सूक्ष्मसे खण्डित न होकर चिरन्तन अविभक्त रह सकते हैं।

यों तो राजनीति और अध्यात्म पुराकालमें भी और भारतके सत्याग्रह-आन्दोलनके समयमें भी एकमेव हो गये थे। किन्तु नेहरूजी साम्यवाद और संस्कृतिको युग-विकासकी दृष्टिसे देखते हैं, और दोनोंको नये सामाजिक स्तरपर एक कर देते हैं। साम्यवादके सम्बन्धमें वे लिखते हैं—"यह भारतके पुराने ब्राह्मणोचित सेवाके आदर्शसे बहुत भिन्न नहीं है।"

विचारोंमें आधुनिक होते हुए भी नेहरूजी अतीतके अनुरागी हैं। वे लिखते हैं—"शायद मेरे विचार और जीवनका मेरा रास्ता पूर्वीकी अपेक्षा पश्चिमी अधिक है, लेकिन हिन्दुस्तान जैसा कि वह अपने सब बच्चोंके हृदयमें रहता है, अनेक रूपसे मेरे हृदयमें भी है और अन्तरके

किसी अनजान कोनेमें कोई सौ (या संख्या कुछ भी हो) पीढ़ियोंके ब्राह्मणत्वकी जातीय स्मृतियां छिपी हुई है । मैं अपने पिछले संस्कार और नूतन अभिज्ञानसे मुक्त हो नहीं सकता ।"

अपने भारतीय संस्कारोंके कारण नेहरूजीको भी हिमालयपर अभिमान है । भारत-चीनके सीमा-विवादपर भाषण देते हुए उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा है—'हम चीनको हिमालय नहीं दे सकते !'

देहरादून-जेलमें वे हिमालयकी पर्वत-श्रेणियोंको देखकर सान्त्वना पाते थे । अपने उस समयके एकाकी और एकाग्र क्षणोंको उन्होंने कविके इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

पक्षिपुञ्ज ये उड़-उड़ ऊँचे निकल गये हैं कितनी दूर !
जलद-खण्ड भी इसी तरह वह नभ-पथसे हो गया विलीन;
एकाकी मैं, सन्मुख मेरे पर्वत-शृङ्ग खड़ा है शान्त—
मैं उसको, वह मुझे, देखते दोनों ही हम थके कभी न ।

क्या नेहरूजी हिमालयको प्राकृतिक दृष्टिसे ही देखते हैं ? उनके लिए उसका केवल भौगोलिक महत्त्व है ? नहीं, प्रत्येक भारतीयकी तरह वे भी उसे सांस्कृतिक दृष्टिसे देखते हैं । उन्हींके शब्दोंमें 'उसकी दृढ़ता और स्थिरतामें लाखों वर्षोंका ज्ञान और अनुभव' है ।

हिमालयकी भाँति ही नेहरूजी प्राचीन भारतीय वाङ्मयको भी आदरकी दृष्टिसे देखते हैं । उपनिषद्के इन वाक्योंका सूक्ष्म आध्यात्मिक मर्म वे पा चुके हैं—

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय !

काशी,
१७ सितम्बर, १९५९

छायावाद

इतिहासके सन्तप्त वातावरणमें मलयानिलकी एक शीतल सुगन्धित साँस—छायावाद।

आधुनिक भारतीय साहित्यमें छायावादका प्रादुर्भाव रवीन्द्रनाथकी प्रतिभासे उस समय हुआ था जब देश बृटिश शासनके अन्तर्गत पराधीन था। पराधीनतासे मुक्तिके लिए क्रान्तिकारी आन्दोलन और दमन चल रहा था। ऐसे दुर्द्धर्ष वातावरणमें छायावादका सुकोमल सञ्चरण कैसे हो गया ?

मध्ययुगमें भी तो संघर्ष होता था, फिर भी काव्य सम्पूर्णतः युद्ध-प्रधान नहीं हो गया, वह मुख्यतः भक्ति और शृङ्गाररसमें प्रवाहित होता रहा। इसका कारण आर्थिक विकेन्द्रीकरण था, इसीलिए जीवन और साहित्यमें विविधता बनी हुई थी।

छायावाद-युगमें यद्यपि मध्ययुगका आर्थिक विकेन्द्रीकरण समाप्त हो गया था, तथापि बृटेन और भारत दोनोंका सम्बन्ध अपने-अपने अतीतसे बना हुआ था, राजनीतिक उथल-पुथलमें भी दोनोंका सांस्कृतिक और साहित्यिक अनुराग अक्षुण्ण था। दोनोंका वातावरण मध्ययुगीन था; साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पुराने ढंगका पूँजीवाद बना हुआ था। सच तो यह कि दोनोंकी बाह्य और आन्तरिक प्रवृत्तियोंमें कोई आमूल परिवर्त्तन नहीं हुआ था। पराधीनता और स्वाधीनताका संघर्ष भी गान्धी-युगके पहिले वैसा ही था जैसा अपने-अपने प्रभुत्वके लिए मध्ययुगमें था। केवल संघर्षका साधन और कौशल बदल गया था। इतिहास अपनी उस पराकाष्ठा (वर्ग-संघर्ष) पर नहीं पहुँच गया था जहाँ अतीत विध्वस्त हो जाता है।

गान्धी-युग तक अतीतसे सम्पर्क बना हुआ था, किन्तु गान्धीवादने इतिहासकी विद्वेषमूलक राजनीति नहीं ली, उसने स्वाधीनताके आन्दोलनको अतीतके अध्यात्मसे सांस्कृतिक रूप दे दिया।

तो, बृटेन एक ओर अपने साम्राज्यकी रक्षाके लिए भारतकी राजनीतिक चेतनाका अवरोध कर रहा था, दूसरी ओर साहित्य, संस्कृति और कलाके आदान-प्रदानको प्रोत्साहन दे रहा था। हो सकता है कि अंग्रेजी शिक्षाकी तरह इस आदान-प्रदानमें भी उसका साम्राज्यवादी स्वार्थ सन्निहित रहा हो, किन्तु इससे कुछ लाभ भी हुआ, सामाजिक सुधार और साहित्यिक उत्कर्ष हुआ। अतीतसे सांस्कृतिक सम्बन्ध बनाये रखकर जैसे अंग्रेजीमें रोमाण्टिसिज्म आया, वैसे हिन्दीमें छायावाद। छायावाद ही नहीं, रोमैन्टिक अंग्रेजी कवि शैलीका भावादर्श भी गान्धीवादसे समरस हो गया। उसने भी अपने ही देशके शासकोंसे पीड़ित, दलित, शोषित जनताको उन्नीसवीं सदीमें अहिंसात्मक सत्याग्रहका सन्देश दिया था।............

भारतीय संस्कृतिसे निःसृत मध्ययुगका काव्य निर्गुण, सगुण और शृङ्गारिक था। वह आध्यात्मिक और गार्हस्थिक था। गार्हस्थ्यमें भी जो एक धार्मिक निष्ठा थी उसीसे शृङ्गारिक कविताएँ अनुस्यूत थीं। यहाँ तक कि प्राचीन कवि अपनी रचनाका आरम्भ मङ्गलाचरणसे करते थे। क्या अन्य सम्प्रदायोंमें भी शृङ्गारिक काव्य प्रभुका नैवेद्य था?

निर्गुण-काव्य वीतराग और विदेह था। वह उस अन्तश्चेतना (ईश्वरी चेतना) को लेकर चल रहा था जो शरीरकी तरह किसी सम्प्रदायमें सीमित नहीं, सबमें एक समान व्याप्त और अपरिसीम थी। मध्ययुगके साम्प्रदायिक संघर्षोंमें निर्गुण मानो 'शान्तम्-शिवम्-अद्वैतम्' का सन्देश दे रहा था। क्या पश्चिमके क्रूसेड-कालमें भी काव्यमें कोई ऐसा सांस्कृतिक सन्देश मिला था? निर्गुणकी धार्मिक सहिष्णुता और आन्तरिक एकताका सन्देश उस समय भी कल्याणकारी था और इस अवशिष्ट साम्प्रदायिक मूढ़ताके युगमें भी कल्याणकारी है।

मध्ययुगमें जैसे धर्मका दुरुपयोग होने लगा था वैसे ऐश्वर्यका भी दुरुपयोग होने लगा था। साम्प्रदायिक सङ्कीर्णताने धर्मको दूषित कर दिया था, ऐहिक विलासिताने ऐश्वर्यको। दोनोंमेसे ईश्वरत्व निकल गया था, मनुष्य निष्ठुर हो गया था। कबीरने हया जगानेके लिए कहा—

मुखड़ा का देखत दरपन में
तोरे दया धरम नहिं मन में।

धर्मका मर्मोद्घाटन करनेके लिए निर्गुण जैसे साम्प्रदायिकतासे और अन्तश्चेतना जगानेके लिए देहसे मुक्त हो गया था, वैसे ही लोगोंको विलासितासे विमुख करनेके लिए वीतराग भी हो गया था। वह बाहरका छद्मावरण हटाकर मनुष्यको अन्तर्लीन होनेका परामर्श दे रहा था। कबीरने तमाच्छन्न आत्मासे कहा—

घूंघट का पट खोल री
तोहें राम मिलेंगे।

क्या निर्गुण-काव्य निष्क्रिय था? बाहरसे वह ऐसा ही जान पड़ता है, किन्तु भीतरसे नैतिक क्रियावान् था। सांसारिक कार्य्य-कलापोंमें उसे सचाई नहीं मिल रही थी, अतएव उसका निषेध कर रहा था। हृदय-परिवर्त्तन और अन्तःसाक्षात्के लिए प्रेरित कर रहा था। इस आत्मयोग-से बाहरका कर्मयोग भी सचेतन कर देना चाहता था। अपने सदुद्देश्यमें श्लाघ्य होते हुए भी वह व्यावहारिक जगत्में अग्राह्य था। यह क्यों?—बाह्य आकर्षणके अभावमें निर्गुण-काव्य नीरस और कला-रहित हो गया था। कबीरने रूपकका सहारा लिया। किन्तु उसमें भी अलौकिक चिन्तन था, लौकिक स्पन्दन नहीं। अपनी अलौकिक गूढ़ताके कारण वह दुर्बोध हो गया। उस निर्गुण अध्यात्मको ही काव्यमें रहस्यवाद कहते हैं।

एक छोरपर निर्गुण था, दूसरे छोरपर त्रिगुण संसार था। दोनों अपनी-अपनी पराकाष्ठापर थे। दोनोंके बीचमें एक मध्यपथ अथवा सेतुकी आवश्यकता थी, वही सगुण-काव्य बन गया। उसमें अतीन्द्रिय निर्गुण ही सेन्द्रिय अथवा सदेह हो गया, अपना माध्यम पा गया। भाव और कला-शून्य इस्लाममें भी एक मध्यमार्गका प्रवर्त्तन हुआ। वह प्रेमका मार्ग था, उसके प्रवर्त्तक सूफ़ी और दरवेश थे।

निर्गुण (निराकार) चेतनाको सर्वसुलभ करनेके लिए सगुणने कलात्मक मनोविज्ञानसे काम लिया, शरीरकी तरह ही उसे रूप-राग-रंगसे प्रत्यक्ष कर दिया। मानसिक अनुभूतिको सामाजिक बना दिया। ईश्वर मनुष्यके चारों पुरुषार्थों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) में जीवन्त हो गया। वह मनुष्यके आदर्शोंका प्रेरणा-केन्द्र था।

युगके अनुसार ईश्वरका स्वरूप बदलता रहा है। कभी वह मर्य्यादा-पुरुषोत्तम राम था, कभी कलाधर कृष्ण था। कवियोंका कलानुरागी मन कृष्णमें अधिक रमा। यहाँ तक कि निराकार ईश्वरके अनुयायी उन मुसलमानोंको भी कृष्णके मोहक व्यक्तित्वने आकृष्ट कर लिया, जिन्हें हम प्रेममार्गी कहते हैं। कुछ तो ऐसे स्वनामधन्य कृष्णोपासक हो गये कि भारतेन्दुको कहना पड़ा—"इन मुसलमान हरिजननपर कोटिन हिन्दुन वारिये।"

रामकी तरह कृष्णका जीवन भी व्यापक था, तो फिर कवियोंपर कृष्णका मधुर एकाङ्गी प्रभाव ही क्यों पड़ा? इसका कारण मनुष्यका रागात्मक हृदय है। अवस्था-क्रमसे मनुष्य वीतराग भी हो जाता है, किन्तु समयके पहिले सब रामकी तरह अकाल-संन्यास नहीं ले सकते थे, प्रकृतिका व्यतिक्रम नहीं कर सकते थे। मनुष्यके प्राकृतिक अनुरागको ब्रजके कृष्णमें ही अपना प्रतिमान मिल गया था।

जो वयोवृद्ध थे उन्होंने कृष्णके बाल्यरूपसे अपने वात्सल्यको परितृप्त किया। तरुण नर-नारियोंने कृष्णके प्रणयसे अपनेको तद्रूप कर लिया।

मध्ययुगकी हिन्दी-कवितामें कृष्णके माधुर्य भावका, ब्रजभाषाके शृङ्गार-रसका प्राचुर्य्य है, वह बड़े लम्बे समय तक (बीसवीं सदीके प्रायः तृतीय दशक तक) प्रवाहित होता रहा है। इतनी विशदता, इतनी तन्मयता, इतनी सरसता, इतनी कलात्मक विविधतासे विश्व-साहित्यमें कदाचित् अन्यत्र कोई प्रेम-काव्य नहीं प्रवाहित हुआ।

इस प्रेम-काव्यमें भी सगुणकी आध्यात्मिक चेतना बनी हुई थी। कृष्ण केवल प्राकृत पुरुष नहीं थे, वे मनुष्यके अन्तर्वासी चैतन्य भी थे। तभी तो महाकवि देवने कहा—'गातन की ओट बैठे बातन गिलत हौ।' —शरीरकी ओटमें बैठकर बातें बना रहे हो! कैसी लीला कर रहे हो!—

'ऐसे निरमोही सदा मोहीं में बसत अरु
मोहीं ते निकरि फेरि मोहीं न मिलत हौ।'

कालान्तरमें कृष्णका सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप लुप्त हो गया, स्थूल रूपमें वह शरीर ही प्रधान हो गया जो कभी एक ओट था। किन्तु शरीर पशुका नहीं, भावात्मक मनुष्यका था; अतएव ब्रजभाषाकी अश्लील कविताओंमें भी कलाकी मनोहरता थी, सौन्दर्यकी चित्र-चारुता थी, प्रणयकी राग-भङ्गिमा थी।

उन्नीसवीं सदीमें अंग्रेजोंका प्रभुत्व सुदृढ़ हो जानेपर मध्ययुगका सौन्दर्य्य और ऐश्वर्य्य निष्प्रभ हो गया। पहिले भी दुःख और दारिद्र्य था, किन्तु सम्पत्तिका स्रोत पूरबसे पश्चिमकी ओर नहीं मुड़ गया था। अकालमें भी देशको जीवन सुलभ था। अब विदेशी शोषणके कारण जीवन-यापन एक समस्या हो गया। ब्रजभाषामें कभी जिस शरीरके भाव-पक्षका प्रादुर्भाव हुआ था, उस शरीरका अभाव-पक्ष भी उभर आया। यहाँ तक कि अभाव असन-वसनमें व्यक्त होने लगा। जीवन और साहित्य-में आर्थिक दृष्टिकोणका प्रारम्भ हुआ। परम्परा-द्वारा प्राप्त भक्ति और

शृङ्गार रस काव्यमें अब भी अङ्गीकृत था, किन्तु उसके साथ युग-चेतना-का स्वर भी झंकृत हो गया। परम्परा और नवीनताका यह संयोजन भारतेन्दुके साहित्यमें देखा जा सकता है।

बीसवीं सदीके आरम्भमें द्विवेदी-युगका उदय हुआ। उसने परम्परा-का परित्याग नहीं किया, किन्तु माधुर्यके स्थानपर भारतीय संस्कृतिका ओज दिया। जीवन जैसा रूखा-सूखा अथवा परुष होता जा रहा था, उसे वहन करनेमें सुकोमल ब्रजभाषा असमर्थ हो गयी थी। उसके स्थानपर खड़ी बोली आ गयी। भाषाके अनुरूप ही अभिव्यक्तिका माध्यम भी सशक्त हो गया, कविताके स्थानपर गद्यका प्रचलन हुआ। द्विवेदी-युग न भी आता तो भी साहित्यमें यह सामयिक परिवर्त्तन हो जाता।

समयके उलट-फेरमें भी मध्ययुगका जो सामाजिक और पारिवारिक जीवन व्यवस्थित रूपमें चला आ रहा था, उसीका सांस्कृतिक अभि-व्यञ्जन और नये वातावरणका उद्बोधन द्विवेदी-युगका सत्प्रयास था। वह अतीतको वर्त्तमानमें जगा रहा था। अपनी आस्थासे उसने गृहस्थोंकी तरह परम्पराका आचार-विचार ग्रहण कर लिया था, अतएव किसी अन्तर्मुखी साधनाका प्रश्न उसके सामने नहीं था। वह लोकोन्मुख था; व्यावहारिक दृष्टिसे जीवन और साहित्यमें स्वभावतः बहिर्मुख था। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग, दोनों सगुणोपासक थे; एक कृष्ण-काव्यसे प्रेरित था, दूसरा राम-काव्यसे। हरिऔधजीके 'प्रियप्रवास' के अतिरिक्त भारतेन्दु-युग कृष्ण-काव्यका सामयिक चेतनासे सामञ्जस्य नहीं कर सका था, द्विवेदी-युगने लोक-संग्राहक राम-काव्यका अपने युगकी सार्वजनिक चेतना-से सामञ्जस्य कर दिया, जैसे 'अनघ' 'स्वदेश-सङ्गीत' और 'साकेत'में। वह भारतेन्दु-युगका पूरक युग था।

सगुण-काव्यने स्थूलसे सूक्ष्मको सम्बद्ध किया था। किन्तु शृङ्गारिक काव्य जैसे सूक्ष्मसे फिर स्थूल हो गया था, वैसे ही द्विवेदी-युगका ओजस्वी काव्य भी स्थूल हो गया था। एकमें गीतकाव्यकी भावप्रवणता बनी हुई

थी, किन्तु दूसरेमें प्रबन्ध-काव्यकी वस्तु-प्रवणता आ गयी थी। इसीलिए उस युगकी कविताको इतिवृत्तात्मक कहते हैं। उस युगकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं—उसने नये छन्द, नये कण्ठ, नये विषय, नये आलम्बन, नये परिवेश, नये चित्रपट, नये विचार दिये। एक शब्दमें काव्यकी प्राण-प्रतिष्ठा (भावात्मक सजीवता) के लिए द्विवेदी-युगने नये शरीरका पूर्ण विन्यास किया। उसके बाद छायावादका अन्तःप्रस्फुटन हुआ। उसने स्थूल-को फिर सूक्ष्मका आभास दिया। 'छाया' शब्द सूक्ष्मताका बोधक है, 'वाद' उसके दृष्टिकोणका द्योतक है। शृङ्गारिक काव्यके पहिले जो सगुण स्थूलके साथ सूक्ष्मका समन्वय लेकर चला आ रहा था, छायावाद उसी सगुणका नव-विकास है।

अपने नये सगुण-रूपमें छायावाद साम्प्रदायिक नहीं था। उसने जैसे स्थूलताको प्रधानता नहीं दी, वैसे ही साम्प्रदायिकताको भी प्रधानता नहीं दी। धार्मिककी अपेक्षा वह आध्यात्मिक और दार्शनिक था। भावकी तरह संस्कृतिको भी उसने सूक्ष्मरूप (अन्तश्चेतना) में ग्रहण किया था। वह अपने पिछले सभी युगोंका सांस्कृतिक उत्तराधिकार लेकर प्रादुर्भूत हुआ था। उसके कलकण्ठमें वेदों-उपनिषदोंसे लेकर युग-जागरणतकका स्वर समाविष्ट था।

छायावाद कृष्ण-काव्यकी तरह मुख्यतः गीतकाव्य था। उसमें मनुष्यकी व्यक्तिगत मधुर अनुभूतियों (सौन्दर्य्य, प्रेम, विरह) का प्राधान्य था। वह मानो कृष्ण-काव्यका पुनरुत्थान था। पन्तने कहा—

डुबा देता है मुझे सदेह
सूर-सागर वह स्नेह!
रूपका राशि-राशि वह रास,
दृगोंकी यमुना श्याम;

तुम्हारे स्वरका वेणु-विलास,
हृदयका वृन्दा - धाम।

प्रसादजीने कहा—'जीवन-धन! इस जले हृदयको वृन्दावन बन जाने दो।'

निर्गुणमें विरक्ति थी; राम-काव्यमें अनासक्ति थी। कृष्ण-काव्य और छायावादमें रागानुरक्ति अथवा मोहासक्ति थी। निर्गुण निर्लेप था, निरञ्जन था; छायावादने अपने रूप-रागसे उसे सानुलेप अथवा कलानुरञ्जित कर दिया। तभी तो अपने 'बादल-राग'में निरालाजीने कहा—'निरञ्जन बने नयन-अञ्जन।'

अनासक्ति और विरक्तिका प्रत्याख्यान मानो निरालाजीके इस 'साहित्यिक रवर' में सुनाई पड़ता है—

जो करे गन्ध-मधुका वर्जन
वह नहीं भ्रमर

इसके पहिले छायावादके कविगुरु रवीन्द्रनाथने कहा था—

वैराग्य राधने मुक्ति, से आमार नय
....
तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत
नाना वर्ण-गन्धमय।'.......................
....
गोहि मोर मुक्तिरूपे उठिबे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्तिरूपे रहिबे फलिया।

कविगुरुका काव्यारम्भ कृष्ण-काव्यकी मधुर प्रेरणासे ही हुआ था। उन्होंने गाया था—

हेरि हास तव मधुऋतु धाओल
शुनयि बाँशि तव पिककुल गाओल
विकल भ्रमर सम त्रिभुवन आओल
चरणकमल जुग छोय
को तुहुँ बोलबि मोय !

कहा जा सकता है कि छायावाद भ्रमर-काव्य अथवा रस-काव्य था। वह सीमित या सङ्कीर्ण नहीं, अपनी सूक्ष्म जिज्ञासा ('को तुहुँ बोलबि मोय') और अनुभूतिमें सम्पूर्ण प्रकृति और सम्पूर्ण सृष्टिका समष्टीकरण अथवा केन्द्रबिन्दु था। वस्तुजगत् भी उसमें मधुमय हो गया था।

सगुण-काव्यकी अपेक्षा छायावादकी विशेषता प्रकृतिके सचेतन व्यक्तित्वकी स्थापना है। मध्ययुगोंमें प्रकृति या तो एक परिवेश थी, या आलङ्कारिक उपकरण और रसोद्दीपनका साधन। कलाकी दृष्टिसे छायावादने प्रकृतिको इस बाह्यरूपमें भी अपनाया, किन्तु भावकी दृष्टिसे उसे आन्तरिक रूपमें प्राणवन्त किया। मनुष्यके अन्तःकरणसे प्रकृति भी उसीकी तरह सजीव हो गयी। यह प्रकृतिपर मनुष्यका मनमाना आरोपण नहीं, बल्कि जड़ शरीरमें चेतनाका सञ्चारण था। वैदिक युगमें भी प्रकृतिको सचेतन रूपमें ग्रहण किया गया था, किन्तु उसमें प्रकृति मनुष्यसे भिन्न एक स्वतन्त्र दैवी सत्ता थी। छायावादमें यह भिन्नता समाप्त हो गयी। उसमें सोऽहम् का वह विश्वबोध था जो प्रकृतिको अभिन्न रूपमें ग्रहण कर सका।

भारतीय वाङ्मयमें चैतन्य (ब्रह्म) का प्रतिनिधित्व पुरुष करता आया है। नारीको जड़ (माया) कहकर उसे त्याग दिया गया था, जैसे रामकाव्यमें सीता, कृष्ण-काव्यमें राधाको। छायावादने नारीका अभिषेक किया। उसे 'देवि, मा, सहचरि, प्राण' कहकर सामाजिक स्नेह और सम्मान दिया। नारीके इन विविध रूपोंमें प्रकृति ही सगुण हो गयी।

प्रकृतिका सगुण रूप पन्त और महादेवीकी कविताओंमें मिलता है। उनमें सौन्दर्य और माधुर्य है। प्रसाद और निरालाकी कविताओंमें परम्परागत पुरुषका अध्यात्म और ओज है। भाषा और शैलीमें अपेक्षाकृत अन्तर होते हुए भी प्रसाद और निरालाकी कविताओंमें द्विवेदी-युगका गद्य-संस्कार है। लालित्य और प्राञ्जलताका अभाव है। छायावादकी काव्य-कलाका पूर्ण परिष्कार पन्तकी कविताओंमें है; केवल सौन्दर्य्य और सङ्गीतमें ही नहीं, आध्यात्मिक अभिव्यञ्जनमें भी—जैसे 'परिवर्त्तन' में।

पन्तके 'युगान्त'के पहिले निरालाका और 'कामायनी'-द्वारा 'प्रसाद'-का काव्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत है। द्विवेदी-युग तो प्रबन्ध-काव्य, खण्ड-काव्य, निबन्ध-काव्यका युग था ही, गीत-काव्यके बाद छायावादमें भी इन लोकपरक काव्योंका नयी शैलीमें प्रादुर्भाव हुआ। 'कामायनी'के अतिरिक्त पन्तकी 'ग्रन्थि', निरालाजीका 'तुलसीदास', 'रामकी शक्ति-पूजा' और 'सरोज-स्मृति' इसके उदाहरण हैं। 'प्रसाद'जी छायावादके अभ्युदय-कालके पहिलेसे ही खण्डकाव्य ('प्रेमपथिक', 'महाराणाका महत्त्व' और गीतनाट्य 'करुणालय') लिख चुके थे। उक्त काव्योंको देखनेसे ज्ञात होता है कि छायावादमें केवल मानसिक कल्पना नहीं थी, उसमें सामाजिक अनुभूति भी थी; विशेषतः निरालाजीकी निबन्धात्मक और मुक्तक कविताओंमें। राम-काव्यकी परम्परामें निरालाजी द्विवेदी-युगके वशंवद हैं।

छायावाद-युगमें जैसे लोकपरक काव्योंका प्रणयन हुआ था, वैसे द्विवेदी-युगमें गीतकाव्यका भी भावात्मक सृजन हुआ था। मैथिलीशरण गुप्तकी 'झङ्कार', सियारामशरण और मुकुटधरके प्रगीत मुक्तक इसके उदाहरण हैं। मुकुटधरकी कविताएँ अधिक ललित और प्राञ्जल हैं। समग्र रूपसे द्विवेदी-युगके गीत-काव्यका भी ढाँचा इतिवृत्तात्मक था, उसमें नैबन्धिक गठन था।

गद्यका विन्यास लेकर द्विवेदी-युगका काव्यारम्भ पद्यसे हुआ था।

काव्यमें पद्यका भी अपना एक ठोस स्थान है, वह सुदृढ़ नींव है। उसमें गम्भीर व्यवस्था, व्यावहारिक परिपक्वता और गार्हस्थिक प्रौढ़ता है। छायावादमें कौमार्य्य था, पुरानी नींवपर उसने अपने स्वप्नोंके अनुरूप नये शिल्पका नीड़ बनाया। उसका मनोजगत् और रचना-कौशल रोमैण्टिक था।

प्रसादजीके शब्दोंमें—"छाया भारतीय दृष्टिसे अनुभूति और अभिव्यक्तिकी भङ्गिमापर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रताके साथ स्वानुभूतिकी विवृत्ति छायावादकी विशेषताएँ हैं।"

छायावादकी उक्त विशेषताएँ पुराने साहित्य (विशेषतः संस्कृत-साहित्य) में भी देखी जा सकती हैं, तो फिर छायावादमें कौन-सी नवीनता आ गयी ? उसमें रागात्मकता और कलाका विकास हो गया था। उसपर अंग्रेजी और बँगलाकी रोमैण्टिक कविताका भी प्रभाव पड़ गया था, अतएव उसकी आकृति-प्रकृति अपनी परम्परासे कुछ भिन्न हो गयी। यह प्रभाव स्वाभाविक था। क्योंकि साहित्यमें आदान-प्रदान भी होता रहता है, जैसे कभी लोकगीतों और लोककथाओंका हुआ था। छायावाद-द्वारा साहित्यके उस सर्वदेशीय सम्बन्धका सूत्रपात हुआ जो आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंकी तरह ही विश्व-साहित्यके लिए भी अनिवार्य हो गया है।

छायावाद 'रोमैण्टिक रिवाइवल' का युग है। जीवन और साहित्यके परिशोधन और परिवर्द्धनके लिए इसका नवोदय होता रहता है। वह पुनर्नवा है। कविने जो गीत-विहगके लिए कहा है वही छायावादके लिए भी कहा जा सकता है—

> रिक्त होते जब-जब तरु-वास
> रूप धर तू नव-नव तत्काल,

नित्य-नादित रखता सोल्लास
विश्व के अक्षय-वट की डाल।

छायावादने पिछले सभी युगोंको अपनी नवप्राण चेतनामें समन्वित कर जीवन और साहित्यको आगेकी ओर अग्रसर कर दिया। उसमें वैष्णवोंके माधुर्य भावके अतिरिक्त शैवोंका अद्वैतवाद (सामरस्य) और प्रेमका प्राचीन ऋग्वैदिक रूप 'काम' भी था, जैसे प्रसादकी 'कामायनी' में। अंग्रेजीके रोमाण्टिसिज्मके अतिरिक्त सूफ़ी काव्यका भी सहयोग था, जैसे प्रसादके 'आँसू' और महादेवीके गीतोंमें। विविध युगों और विविध देशोंकी प्रेरणाओंमें अपने युग और अपनी प्रेरणाको सँजोकर छायावाद भविष्यको अपना उत्तराधिकार दे गया।

क्या निर्गुण-काव्य छूट गया? वह तो सूक्ष्म चेतनाकी तरह सगुणसे लेकर छायावाद तकमें समाहित था। विशेषरूपसे सगुण-काव्य ही छायावादमें इसलिए प्रतिफलित हो गया था कि वह सामाजिक जीवनमें प्रत्यक्ष था। निर्गुणमें बहिरन्तर जीवनका जो शुद्धाचरण था वह लोक-सुलभ कार्यक्रमके अभावमें व्यक्तिगतसे सार्वजनिक नहीं बन सका था। गान्धीवादने निर्गुणको राम-काव्यके कर्त्तव्य और त्यागमें परिणत कर दिया। राजनीतिको भी उसने सत्याग्रह बना दिया। प्रकृतिका भी उसमें समावेश हो गया। सच तो यह कि प्रकृति ही गान्धीवादकी जीवनी शक्ति थी। आध्यात्मिक दृष्टिसे वह दैवी थी ही, भौतिक दृष्टिसे कृषि और ग्रामोद्योगमें मानवी भी हो गयी। छायावादमें जिस प्रकृतिका भाव-पक्ष था, गान्धीवादमें उसी प्रकृतिका कर्म-पक्ष था।

छायावादका विकास-काल प्रथम विश्वयुद्धसे लेकर दूसरे महायुद्ध तकका समय है। वह प्रायः गान्धीवादका समकालीन है।

कालान्तरमें कृष्ण-काव्य जैसे केवल शृङ्गारिक हो गया, वैसे ही छायावाद भी। रीतिकालकी तरह उसमें भी कला चमत्कारिक हो गयी।

उसकी शृङ्गारिकतामें क्षयी रोमांस और कलामें केवल शैलीका आभास मिलने लगा। कहा जाता है कि अश्लीलताके कारण ब्रजभाषाका और मानसिक विलासिताके कारण छायावादका ह्रास हो गया। यह कारण ठीक नहीं है। ब्रजभाषा और छायावादका ह्रास मध्ययुगके उस आर्थिक आधारके टूट जानेके कारण हुआ जिसकी प्राणशिरा कृषि थी, मेरुदण्ड ग्रामोद्योग था। आज कृषि और उद्योगकी समस्या ही युग-समस्या हो गयी है। अब भी खादी और हिन्दीकी तरह अतीतका आर्थिक आधार किसी अंश तक शेष है, अतएव, काव्यमें नये ग्रामगीतों और छायावादके नये तरुणकण्ठोंका सजीव स्वर सुनायी पड़ता है।

आज प्रगतिवाद और प्रयोगवादके द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे साहित्यका जो सैद्धान्तिक मतभेद चल रहा है, वह परोक्ष रूपसे आर्थिक अथवा औद्योगिक मतभेद है। प्रयोगवाद छायावादके समीप है।

कहा जाता है, छायावादमें सामन्त-युगका काव्य-विकास था। 'पर्यालोचन'में पन्तजीका वक्तव्य भी इस कथनका समर्थन करता है। 'युगान्त'-में उन्होंने जीवनकी विषण्णता देखकर मनुष्यसे कहा था—

जो एक, असीम, अखण्ड, मधुर व्यापकता
खो गयी तुम्हारी वह जीवन-सार्थकता!

इन पंक्तियोंके सम्बन्धमें ऐतिहासिक दृष्टिसे पन्तजी कहते हैं—"अब मैं जानता हूँ कि वह केवल सामन्त-युगकी सांस्कृतिक भावना थी जिसे मैंने खोया था, और उसके विनाशके कारण मेरे भीतर नहीं बल्कि बाहर-के जगत्‌में थे। इस बातको 'ग्राम्या' में मैं निश्चयपूर्वक लिख चुका हूँ—

'गत संस्कृतियों का आदर्शों का था नियत पराभव'
'वृद्ध विश्व सामन्त-काल का था जड़ खँडहर'

संस्कृति या किसी भी सुकृतिको वर्ग-विशेषकी दृष्टिसे देखकर उसका मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता। मध्ययुगका जीवन्त विकास इसीलिए खण्डनीय नहीं है कि वह सामन्त-युगका प्रतिफल था। हाँ, उस विकासके लिए प्रत्येकको अवसर मिलना चाहिए, साधन किसी वर्ग-विशेषमें सीमित नहीं रहना चाहिए। इतिहास यही सङ्केत दे रहा है।

राजनीतिक और आर्थिक कारणोंसे परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, जीवन और साहित्य भी बदल रहा है। 'ग्राम्या' में कविने अनुभव किया था कि 'गत सगुण आज लय होनेको' है और नयी परिस्थितियोंकी प्रेरणासे नये प्रकाशका उदय हो रहा है। परिवर्तनका यह क्रम युग-युगसे चला आ रहा है, तभी तो जीवन और साहित्यमें नवीन परिशोधन और परिवर्द्धन होता आया है। हमें जागरूक रहकर युग-परिवर्तनका स्वागत करना चाहिए।

कविने छायावादकी उपेक्षा नहीं की, अपितु उसे नयी परिस्थितियोंके अनुरूप नये सगुणमें रूपायित करनेके लिए 'युगवाणी' दी—

"रूप-रूप बन जायँ भाव स्वर,
चित्र-गीत झङ्कार मनोहर,
रक्त-माँस बन जायँ निखिल,
भावना, कल्पना, रानी !
युग की वाणी !

आत्मा ही बन जाय देह नव,
ज्ञान ज्योति ही विश्व स्नेह नव,
हास, अश्रु, आशाऽकांक्षा—
बन जायँ खाद्य, मधु, पानी।
युग की वाणी !"

काशी, शुक्रवार :
२४ जुलाई, १९५९

पन्तकी काव्य-प्रगति और परिणति

[१]

क्रम-विकास

कवि-श्री पन्तजीको जिसने उनके कैशोर्य और तारुण्यमें नहीं देखा है, वह कल्पना भी नहीं कर सकता कि उनके जीवन और काव्यमें क्या-से-क्या परिवर्त्तन हो गया ! वे इतने प्रियदर्शन सुदर्शन सुकुमार कवि थे कि देखकर दृष्टि स्वर्गीय सुषमाकी झलक पा जाती थी, स्रष्टाकी चित्रचारुताका आभास पा जाती थी। 'पल्लव' के 'वीचि-विलास' शीर्षक कवितामें पन्तजीके उस समयके भावात्मक जीवन और व्यक्तित्वका कुछ परिचय मिल जाता है। वे कितने कोमल थे !—

छुई-मुई-सी तुम पश्चात्
छूकर अपना ही मृदु गात,
मुरझा जाती हो अज्ञात।

उनकी कोमलतामें कितनी दिव्यता और आत्मीयता थी—

दिव्य भूति-सी आ तुम पास ,
कर जाती हो क्षणिक विलास ,
आकुल उरको दे विश्वास।

उनमें वह अतीन्द्रिय आत्मा थी जो शिशुओंकी तरह हँस-खेलकर भी सांसारिक सुख-दुःख और जन्म-मरणसे परे थी—

खेल मिचौनी-सी निशि-भोर,
कुटिल काल का भी चित चोर,
जन्म-मरणसे कर परिहास,
बढ़ असीम की ओर अछोर;
तुम फिर-फिर सुधि-सी सोच्छ्वास,
जी उठती हो बिना प्रयास,
ज्वाला-सी, पाकर वातास।

'वीणा' में पन्तका कैशोर्य और 'पल्लव' में तारुण्य है। कविने अपनी काव्यात्माको बालिका और नारीके रूपमें व्यक्त किया है। किन्तु वह बालिका और नारी क्या मानवी है? कहीं भी तो उसमें ऐन्द्रियिक स्पर्श नहीं है। सब कुछ केवल रागानुभूति मात्र है। वह तो कविकी शब्दातीत भावनाकी निरीहता और हार्दिकताका केवल प्रतीक है। अपनी अगोचर अन्तरात्माके साक्षात्कारके लिए कविने कभी एक कल्पित नाम ('श्रीनन्दिनी') का भी उपयोग किया था।

क्या किसी नाम-रूपसे कविकी अन्तरात्माका प्रत्यक्षीकरण हो सकता है? 'वीणा' की बालिका माँको अपने उद्‌गार सुनाती है, 'पल्लव' की तरुणी अपनी सखियोंको; विहगों, मधुपों और झरनोंकी सन्ततियाँ उसकी सखियां हैं। कहींसे भी कोई मानवीय परिचय नहीं मिलता। वह तरुणी तो निसर्ग-कन्या है, प्रकृतिके प्राङ्गणमें ही वन-विहार करती है। उसे हृदयङ्गम करनेके लिए प्रकृतिसे भावात्मक तादात्म्य स्थापित करना चाहिए।

यद्यपि 'गुञ्जन' में भी वह निसर्ग-कन्या एक मानसी सृष्टिके रूपमें शेष है, तथापि रूपसी और प्रेयसीके रूपमें उसकी मानवी झलक भी मिलने लगती है। कवि अपने मनोजगत्‌से प्रत्यक्ष जगत्‌में पदार्पण करता है,

यहाँ उसे अभाव-पीड़ित मानवका दर्शन होता है, 'गुञ्जन'के स र ग ममें सामाजिक स्वर भी गूँज उठता है।

'ज्योत्स्ना' में कवि अपनी स्वप्निल सृष्टि (मानसी सृष्टि) को मानवीय आकार-प्रकार और परिधानमें उपस्थित करने अथवा छायावादको मूर्त्तरूप (सामाजिक रूप) देनेके लिए प्रयत्नशील हुआ, किन्तु वह नाट्य प्रयोग रूपक ही रह गया, रूप नहीं बन सका। 'युगान्त' में भी यद्यपि छायावादका सूक्ष्म अन्तर्मुख संस्कार शेष है, तथापि उसमें 'गुञ्जन'-का सामाजिक असन्तोष और रूपक-रहित मानवका ऐहिक कलेवर स्पष्ट हो गया—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम ,
निर्मित सबकी तिल-सुषमासे
तुम निखिल सृष्टिमें चिर-निरुपम !
यौवन-ज्वालासे वेष्टित तन ,
मृदु त्वच, सौन्दर्य-प्ररोह अङ्ग ,
न्योछावर जिनपर निखिल प्रकृति ,
छाया-प्रकाशके रूप-रङ्ग !

यह क्या ! प्रकृतिके कविने मनुष्यपर प्रकृतिको न्योछावर कर दिया, मानो उसपर दूर्वा-अक्षत-चन्दन-कुङ्कुम छिड़क दिया ! इस अभिषिक्त मानवकी प्रतिष्ठापना 'ज्योत्स्ना' में भी हो गयी थी—

"न्योछावर स्वर्ग इसी भूपर
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेमकी बाँहोंमें
है मुक्ति यही जीवन-बन्धन।"

'युगान्त' से 'वीणा', 'पल्लव', 'गुञ्जन', 'ज्योत्स्ना' के काव्य-युग (छाया-युग) का अन्त होता है। इसके पूर्व पन्तकी 'पाँच कहानियाँ' मानो 'युगान्त' की सामाजिक भूमिका हैं।

'युगवाणी' से प्रकृति विदा हो जाती है, निश्चित रूपसे मनुष्य उसका उत्तराधिकारी हो जाता है—

"हार गयीं तुम
प्रकृति !
रच निरुपम मानव-कृति।

निखिल रूप, रेखा, स्वर
हुए निछावर
मानव के तन मन पर।"

'युगान्त' में जिस मानववादका आरम्भ हुआ, 'युगवाणी' में उसकी परिणति ऐतिहासिक भौतिकवाद (प्रगतिवाद) में हुई। युगको मार्क्सवादी दृष्टिसे देखकर भी कवि सर्वथा उसीमें सीमित नहीं हो गया। कविने समाजकी सारी कुरूपता, मनुष्यकी सारी दुर्बलताको प्यारसे समेटकर उसे उच्च आदर्शके लिए प्रेरित किया—

"ऊर्णनाभ-से प्राण
सूक्ष्म, अमर अन्तर-जीवन का
तानें मधुर वितान,
देश-काल के मिला छोर।"

'युगवाणी' में भी कवि कलाकार है। कलाकी दृष्टिसे उसने कर्कशताका भी सदुपयोग किया है, बेमेल जीवनको सङ्गीतका सामञ्जस्य दिया है। वह कोलाहल और तामसिक प्रवृत्तियोंको आमन्त्रित करता है—

आओ मेरे स्वर में गाओ
जीवन के कर्कश अपस्वर!
मेरी वंशी में लय बन जाओ।
अहङ्कार बन, राग-द्वेष बन,
काम क्रोध भय विघ्न क्लेश बन,
शत छिद्रोंसे फूट - फूट
शत निःश्वासोंसे मधु बरसाओ।

'पल्लव' में जो कलात्मक सामञ्जस्य था, वह 'युगवाणी'में सामाजिक सामञ्जस्य बन गया। सामञ्जस्य ही काव्य और जीवनका सौन्दर्य है। कवि प्रत्येकको सौन्दर्यके स्रष्टा, द्रष्टा तथा सुरुचिके कलाकार (सुसंस्कृत मानव) के रूपमें देखना चाहता है—

"इस विश्री जगती में कुत्सित
अन्तर-चितवनसे चुन - चुनकर,
सार भाग जीवन का सुन्दर
मानव! भावी मानवके हित
जीवन-पथ कर जाओ ज्योतित।

जो कवि 'अन्तर-चितवन' (अन्तर्दृष्टि अथवा सौन्दर्य-दृष्टि) को उत्प्रेरित करता है वह संस्कृति और कलाका कवि 'युगवाणी'में स्थूल मार्क्सवादकी अपेक्षा सूक्ष्म गान्धीवादको प्राधान्य क्यों नहीं दे सका? गान्धीवाद प्राकृतिक दर्शन लेकर चला था, कवि प्रकृतिसे विमुख हो चुका था, 'युगवाणी' में उसने प्रश्न किया है—

कहाँ मनुज को अवसर
देखे मधुर प्रकृति-मुख ?
भव अभाव से जर्जर
प्रकृति उसे देगी सुख ?

छायावाद-युगमें कविने प्रकृतिका मधुर मुख ही देखा था, इसीलिए संक्रान्ति-कालमें उससे निराशा हो गयी। कवि प्रकृतिका कर्मण्य मुख यदि गान्धीवादमें देखता तो वह आगे भी उसका साथ देती। 'युगवाणी'के बाद 'ग्राम्या'में उसने प्रकृतिको ग्रामीण दृष्टि (गान्धीवादी दृष्टि) से देखनेका प्रयत्न किया, किन्तु प्रगतिवादके कारण वह तटस्थ द्रष्टा ही रह गया। फिर भी 'ग्राम्या'से ही मार्क्सवाद पीछे छूटने लगता है; हल, चर्खा, भारतमाता, अहिंसामें गान्धीवादका प्राकृतिक दर्शन मिलने लगता है। क्या कवि गान्धीवादमें ही एकाग्र हो गया? वह तो मार्क्सवादक तरह गान्धीवादके प्रति भी प्रश्न-सजग है।

पन्तने छायावाद-युगमें जीवनको भावात्मक दृष्टिसे देखा था, संक्रान्ति-कालमें बौद्धिक दृष्टिसे। 'पर्यालोचन'में उन्होंने कहा है—"जब वस्तुजगत्से हृदयको भोजन अथवा भावनाको उद्दीप्ति नहीं मिलती तब हृदयका सूनापन बुद्धिके पास सहायता माँगनेके लिए पुकार भेज ता है।"

क्या बौद्धिक सम्बलसे ही समस्याका समाधान हो गया? समस्या हार्दिक ही नहीं, स्थूल शारीरिक भी थी। इस रूपमें वह 'रक्त-मांस', 'खाद्य-मधु-पानी' की माँग थी। 'युगवाणी'में पन्तजीने इसकी भी प्रेरणा जगायी है—

जनकी रक्त-मांस इच्छाको
मधुर अन्न-फलमें उपजाओ।

पन्तजी सामूहिक रूपसे लोकोद्यम (शरीर-धारण) की प्रेरणा देते हुए भी व्यक्तिगत रूपसे रवीन्द्रनाथकी तरह अपने-आपमें मानसिक प्राणी बने रहे। कहा जा सकता है कि वे छायावाद-युगमें भी सब्जेक्टिव कवि थे, 'युगान्त'के बाद भी सब्जेक्टिव कवि हैं। किन्तु दोनोंकी सामयिक सीमाओंमें अन्तर है। छायावादमें वे अतीतके मनोविकासकी ओर थे, 'युगान्त'के बाद भविष्यके मनोविकासकी ओर हैं, रवीन्द्रनाथके आगेके युगकी ओर प्रगतिशील हैं। वर्तमान उनके लिए ऐतिहासिक क्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति, विचार-क्रान्तिका युग है। 'पर्यालोचन'में उन्होंने कहा है—

"मानव-समाजका भविष्य मुझे जितना उज्ज्वल और प्रकाशमय जान पड़ता है उसे वर्तमानके अन्धकारके भीतरसे प्रकट करना उतना ही कठिन भी लगता है। भविष्यके साहित्यिकको इस युगके वाद-विवादों, अर्थशास्त्र और राजनीतिके मतान्तरों-द्वारा, इस सन्दिग्ध-कालके घृणा-द्वेष-कलहके वातावरणके भीतरसे, अपनेको वाणी नहीं देनी पड़ेगी। उसके सामने आजके तर्क-संघर्ष, ज्ञान-विज्ञान, स्वप्न-कल्पना, सब घुल-मिलकर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतनाके रूपमें वास्तविक एवं साकार हो जायँगे। वर्तमान युद्ध और रक्तपातके उस पार वह एक नवीन, प्रबुद्ध, विकसित और हँसती-बोलती हुई, विश्वनिर्माणमें निरत, मानवतासे अपनी सृजन-सामग्री ग्रहण कर सकेगा।"

भविष्यके जीवन-निर्माणमें रक्त-मांस (भौतिक उपादान) का ही स्वस्थ मानसिक रूपान्तर हो जायगा, फिर एक नया रोमाण्टिसिज्म आ जायगा। कवि देख रहा है—

रक्त-मांसकी देह बन गयी
जीवन - इच्छा निर्भर,

मधुर भावना, मदिर कल्पना
रुचिर शिराएँ सुन्दर।
....
चिर अभाव बन गये भाव
हो लोकप्रेम-सम्पोषित।

—'युगवाणी'

भविष्यमें सब्जेक्टिव ही ऑब्जेक्टिव हो जायगा, व्यक्ति समाज बन जायगा। अभी तो वह ग्रहग्रस्त और खण्डित-कुण्ठित है, इसीलिए सब्जेक्टिव और ऑब्जेक्टिवमें विभेद जान पड़ता है। तत्त्वतः दोनों एक ही चीज है। जो स्वस्थचित्तसे सब्जेक्टिवको साध सकेगा, वही ऑब्जेक्टिवको भी साध सकेगा। 'स्वर्णकिरण'में पन्तने ठीक कहा है, आत्मजयी ही विश्वजयी है।

चाहे व्यक्तिगत हो, चाहे सामूहिक, बाह्य रूपमें समस्या आन्तरिक विकारो (मनोविकारों) का ही दुष्परिणाम है। इस दृष्टिसे पन्तने साहित्यमें मनुष्यके मानसिक परिष्कार (सांस्कृतिक सुधार) का मूलभूत प्रयास किया। 'ग्राम्या'में कहा है—'खण्ड मनुजताको युग-युगकी होना है नव-निर्मित।'—इस निष्कर्ष और निदानके अनुसार पन्तने मनुष्यके मनो-निर्माणको ही सामूहिक अथवा सामाजिक निर्माणमें एकमेव कर दिया है। यह केवल अन्तर्राष्ट्रीय एकताका राजनीतिक सङ्गठन नहीं है, अपितु आन्तरिक चेतना और हार्दिक समवेदनाका सार्वजनिक संयोजन है। 'युगवाणी'में पन्तने कहा है—

निर्माण कर रहा हूँ जग का
मैं जोड़-जोड़ मनुजोंके मन,
मैं काट-काट कटु घृणा कलह
रचता आत्माका मनोभवन।

'आत्माका' यह 'मनोभवन' कवि 'जन-मनके मांस-खण्ड' (शरीर) पर ही निर्मित कर रहा है; पृथ्वीपर क्षितिजकी तरह ।

'युगान्त'से अब तक पन्तकी कविताका आयाम बहुत विस्तृत है। उसमें तन, मन, आत्माकी तरह जीवनके सभी उपादानोंका समावेश है; यहाँ तक कि काम, क्रोध, अहङ्कारका भी कलात्मक वर्ण-सामञ्जस्य है। 'पल्लव' के 'विश्ववेणु' की इन पंक्तियोंसे पन्तकी अद्यावधि कविताका प्रसार-क्षेत्र सूचित होता है—

नभ की-सी निस्सीम हिलोर
डुबा दिशाओं के दस छोर,
हम जीवन-कम्पन सञ्चार
करतीं जग में चारों ओर,
अमर, अगोचर, औ' अविकार।

'पल्लव' के प्रकीर्ण भावचित्रोंकी तरह पन्तके विचारोंमें भी विविधता और विकीर्णता है। 'पल-पल परिवर्त्तित प्रकृति-वेश' की तरह उनके विचारोंमें भी परिवर्त्तन होता रहता है। आलोचकोंको विरोधाभास जान पड़ता है। 'युगवाणी' में भी कहीं वस्तु-सत्यका प्रत्याख्यान है, कहीं सूक्ष्म सत्यका प्रत्याख्यान। 'पर्यालोचन' और 'उत्तरा'की भूमिकामें भी वैपरीत्य है। 'पर्यालोचन' में मार्क्सवादका प्रतिपादन है, 'उत्तरा' की भूमिकामें अरविन्द-दर्शनका निर्देशन। 'पल्लव' के परिवर्तनमें पन्तका जो परिवर्तनशील दृष्टिकोण था, वही उनके सम्पूर्ण जीवनमें व्याप्त है। दृष्टिकोणकी परिवर्तनशीलतामें अवसरवादिता नहीं, समय-सूचकता है; स्थितियोंकी विभिन्नता है। स्थिति-विशेषमें पन्तके विचार अपने-अपने स्थानपर ठीक हैं। 'उत्तरा'की भूमिकामें उन्होंने अपने विचारोंको 'आज' और 'कल' की दृष्टिसे ग्रहण करनेके लिए कहा है।

किन्तु 'कल' भी जब 'आज' बन जायगा तब ? क्या समय वहीं स्थिर हो जायगा ? मुख्य स्थिति है द्रष्टाकी आत्मस्थता, वही युग-युगका सार-सङ्कलन कर जीवन और साहित्यकी श्रीवृद्धि करती रहती है। पन्तमें आत्मस्थता है। जो आत्मस्थ नहीं हैं, वह 'विस्थापित' है।

परिवर्त्तनशीलता ही प्रगतिशीलता है। केवल ऐतिहासिक भौतिकवाद-की दृष्टिसे देखनेपर प्रगतिशीलतामें एक नयी रूढ़िगत जड़ता अथवा निश्चलता आ जाती है। कोई भी रोमैण्टिक कवि जागरूक अथवा चैतन्य रहकर ही चिन्तन और सञ्चयन करता है, इसीलिए उसके विचारोंमें व्यापकता आ जाती है। पन्तके विचारोंको भी किसी एक सीमामें बाँधना सम्भव नहीं है। उनकी कवितामें उद्योग भी है, विज्ञान और मनो-विज्ञान भी है, अध्यात्म भी है। एक शब्दमें सबका समन्वय है।

पन्तका अध्यात्म रूढ़ अध्यात्म नहीं है, संसारकी ओरसे आँख मूँदकर ईश्वरका ध्यान करना नहीं है। 'सियाराम-मय सब जग जानी' को लोक-सिद्ध करनेके लिए 'यह जैसे आँख खोलकर ईश्वरका ध्यान अथवा भगवत् सत्ताका साक्षात्कार करना है।' 'आँख मुँदे जो जड़ वह आँख खुले पर चेतन' जान पड़ता है।

'चिदम्बरा' के चरण-चिह्नमें पन्तने अपने आध्यात्मिक अथवा आस्तिक जीवन-दर्शनको समझनेके लिए एक सरल सूत्र दे दिया है—"भूजीवनको भगवत् जीवन बनानेके लिए हमें कहीं ऊपर नहीं खो जाना है, प्रत्युत जीवन आकांक्षाओंका पुनर्मूल्याङ्कन कर विगत मूल्योंको अधिक व्यापक बनाना है।"

जिस अध्यात्मको अबतक अलौकिक समझा जाता था, पन्तने अपने समन्वयसे उस अध्यात्मको इहलौकिक और सामाजिक बना दिया। छाया-वाद-युगमें भाव और कलाकी दृष्टिसे रोमैण्टिक रिवाइवल हुआ था, 'युगान्त' के बाद विचार और संस्कृतिकी दृष्टिसे रोमैण्टिक रिवाइवल हुआ। 'चिदम्बरा'के 'चरणचिह्न'में पन्तजीने निर्दिष्ट किया है—"मानव-

जीवनकी, युगोंके अन्धकार एवं नैतिक सङ्कीर्णताकी कलङ्क-कालिमामें सनी चेतनाकी चादरको—जिसे कबीर जतनसे ओढ़कर ज्योंकी त्यों रख गये थे—नवीन प्रकाशके जलमें डुबोकर, उसे संस्कृतिके व्यापक मूल्योंकी स्वच्छ शोभा प्रदानकर, हमें सबके ओढ़ने योग्य बनाना होगा।"

क्या पन्तका सांस्कृतिक प्रयास प्रलायन है? प्रगतिशीलताके लिए गति ही नहीं, धृति भी चाहिए। युग-युगके परिवर्तनोंमें वही ग्राहिकाशक्ति है, वही गतिकी चेतना है। गति तो यन्त्रमें भी होती है, किन्तु क्या वह सचेतन है? संस्कृतिके रूपमें पन्तने प्रगतिको धृति (धारणा-शक्ति) दी है, जड़ताको चेतना दी है, वर्तमानको चिरन्तनता दी है।

कहा जाता है, पन्त जीवनके संघर्षसे दूर रहे। पन्तको जीवनका कम संघर्ष नहीं करना पड़ा है। उनके सुकोमल प्राणोंको कठोर आर्थिक कष्ट भी झेलना पड़ा है और दो बार विकट अस्वस्थताका सामना भी करना पड़ा है; किन्तु व्यक्तिगत समस्या (स्वार्थ) के लिए उन्होंने वर्ग-संघर्ष नहीं किया, 'सर्वभूतेषु' में आत्मविलय कर दिया, यही क्या उनका पलायन है?

आर्थिक विपन्नता और अस्वस्थताके कारण पन्तका वह कोमल कमनीय कवि-मुख असमय ही मुरझा गया। उनकी व्यक्तिगत परिस्थितियाँ सार्वजनिक परिस्थितियोंकी ही प्रतिच्छाया थीं। 'वह्नि, बाढ़, झंझाके भूपर' उनका भी 'कोमल मनुज कलेवर' युगकी तरह ही आक्रान्त हो गया। किन्तु अन्तश्चेतनाका कवि भीतरसे कैसे निष्प्राण हो सकता है? वह तो अमृतपुत्र है।

पन्तने मानव-जीवनको केवल बाह्य संघर्ष और आन्दोलनके रूपमें नहीं देखा। वह तो 'पशु-जीवनके तममें जीवन-रूप मरण' है। संघर्षकी-अपेक्षा मानस-मन्थन और आन्दोलनकी अपेक्षा अन्तःसञ्चरणमें जाग्रत अन्तःकरणकी सांस्कृतिक क्रियाशीलताका परिचय मिलता है। 'उत्तरा'-

की प्रस्तावनामें कहा है—"यह मात्र वाहरकी रोटीका युद्ध शीघ्र ही मन-के रणक्षेत्रमें नवीन मान्यताओंके देवासुर-संघर्षका रूप धारण कर, एवं मानव-चेतना तथा अस्तित्वके अन्तरतम स्तरोंको आन्दोलित कर, मानव-हृदयको स्वर्ग-शोणितसे स्नान-पूत तथा नवीन चेतनाके सौन्दर्य और नवीन मानवताकी गरिमासे मण्डित कर देगा।"—पन्तने जीवनके उद्वेलनोंका इसी रूपमें विश्लेषण और संश्लेषण किया है। विश्लेषण मन्थन है, संश्लेषण सञ्चरण है।

पन्तके रुख-मुखमें क्रमशः कितना परिवर्तन हो गया है, यह पुस्तकोंमें मुद्रित उनके विविध चित्रोंमें देखा जा सकता है। किन्तु चित्र मौन हैं, कविताएँ सशब्द हैं, वे ही उनके मौनमुखको मुखरित करती हैं। केवल 'जन्मदिवस' और 'आत्मिका' ही नहीं, पन्तकी सारी कविताएँ ही उनकी अन्तर्व्यञ्जक आत्मकथाएँ हैं, विशेषतः उनके काव्यरूपक—'रजत-शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण'। उनकी आत्मकथा विश्वके मनोविकासकी कथा है। 'वीणा' की बालिकामें तुतलाकर, 'पल्लव' के तारुण्यमें प्रस्फुटित होकर—

"चूम मौन कलियों का मान
खिला मलिन मुख में मुसकान
गूढ़ स्नेह का-सा निःश्वास
पा कुसुमों से सौरभ दान"

—उनकी सुललित कविता 'गुञ्जन' से प्रौढ़ताकी ओर चली गयी, परिपक्ववयकी अनुभूतियोंमें पग गयी; युगपथपर उत्तरोत्तर सांस्कृतिक चरण बढ़ाती 'चिदम्बरा' हो गयी।

'गुञ्जन' में पन्तने कहा था—

क्या मेरी आत्मा का चिरधन ?
मैं रहता नित उन्मन-उन्मन !
....
लगता अपूर्ण मानव-जीवन ,
मैं इच्छा से उन्मन-उन्मन !

अपनी आत्माके चिरधनका अन्वेषण करते हुए उन्होंने 'युगान्त' में कहा—

सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सका नहीं जग में बाहर ।

'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' के अन्तर्मुख कविको 'युगान्त' के 'बापू'में आत्मसादृश्य मिला—

"मङ्गल-शशि लोलुप मानव थे
विस्मित ब्रह्माण्ड-परिधि विलोक
तुम केन्द्र खोजने आये तब
सबमें व्यापक, गत राग-शोक ।"

क्या 'बाहर' का संसार छूट गया ? वह 'युगवाणी' में व्यक्त हुआ । बाहरके संसारमें 'बापू' को छोड़कर पन्त मार्क्सके साथ हो गये । बापू और मार्क्ससे भी जब उनकी जिज्ञासाका समाधान नहीं मिला, मानव-जीवन 'अपूर्ण' ही जान पड़ने लगा, तब 'स्वर्णकिरण' से वे अरविन्दके अनुयायी हो गये । 'उत्तरा' की प्रस्तावनामें रवीन्द्र, विवेकानन्द, गान्धी, मार्क्सका आभार स्वीकार करते हुए पन्तजी लिखते हैं—"इन सबमें जो एक परिपूर्ण एवं सन्तुलित अन्तर्दृष्टिका अभाव खटकता था, उसकी पूर्ति

मुझे श्री अरविन्दके जीवन-दर्शनमें मिली; और इस अन्तर्दृष्टिको मैं इस विश्व-संक्रान्ति-कालके लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ।''

तो, 'गुञ्जन'की जिज्ञासाका समाधान और 'अपूर्ण मानव-जीवन' का पूर्ण दर्शन पन्तको अरविन्दकी अन्तर्दृष्टिसे मिल गया। उनकी स्थापनासे मतभेद हो सकता है, किन्तु कविकी कविताको कविकी दृष्टिसे भी देखना चाहिए, तभी हम निष्पक्ष हो सकेंगे। पन्तजी अपने आलोचकोंसे अधिक गम्भीर और विशद चिन्तनशील विचारक हैं। 'उत्तरा' की प्रस्तावना और 'चिदम्बरा' के चरणचिह्नसे उनके व्यापक दृष्टिकोणको समझनेमें सहायता मिल सकती है।

[२]

समन्वय और अन्विति

'युगान्त' के 'बापू' में पन्तने कहा था—

आत्मा को विषयाधार बना,
दिशि-पलके दृश्यों को सँवार,
गा-गा—एकोऽहम् बहु स्याम,
हर लिये भेद, भव-भीति-भार।

इन्हीं पंक्तियोंमें पन्तकी उत्तरकालीन काव्य-कला और जीवन-दर्शनका संक्षिप्तीकरण है। 'दिशि-पलके दृश्यों' के साज-सँवार (देश-कालके दृश्यपटपर आत्माके नवीन सगुण अथवा नवीन सामाजिक निरूपण) में उनकी नयी कलाकारिता है, चिन्तनकी नूतन चित्रकला है। 'एकोऽहम् बहु स्याम'में चेतनाका सञ्चरण उनका जीवन-दर्शन है।

'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा' और 'युगपथ' में युगान्तरको

अवतरित कर 'रजतशिखर', 'शिल्पी', 'अतिमा', 'सौवर्ण' और 'वाणी' में पन्तने अपने अभीष्ट समाजको सजीव किया है, भविष्यको प्रत्यक्ष किया है। 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' उनके काव्य-रूपक ('कथोपकथन-प्रधान श्रव्य काव्य') हैं।

'पल्लव' में 'बादल' ने कहा था—

विपुल कल्पना से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ-अङ्क
....
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस, छुड़ा जड़-पङ्क

पन्तके काव्यरूपकोंमें भी 'बादल'की तरह ही त्रिभुवनकी वह कल्पना-सृष्टि (कविकी भावी लोकसृष्टि) विविध रूप धर कर साकार हुई है, जिसका पूर्वाभास 'ज्योत्स्ना' में मिलता है। नये रूपकोंमें पन्तने 'युगवाणी' और 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'उत्तरा' तकके भावों और विचारोंको पात्र-पात्रियों के मूर्त्त व्यक्तित्वसे सुगम कर दिया है। व्यक्तित्वके सामाजिक संयोजन की तरह ही भावों और विचारोंमें भी एक समन्वयन है, जैसे आकाश और पृथ्वीमें। आदर्श (चेतना) के ऊर्ध्वलोक (आकाश) से आकर भाव और विचार भूलोकमें जीवनका सञ्चार करते हैं, 'असंख्य अस्फुट बीजों' को प्रस्फुटित कर अपनी ही तरह उन्हें भी ऊर्ध्वमुख कर देते हैं—'सेते साँस छुड़ा जड़-पङ्क।'

'उत्तरा'की प्रस्तावनामें पन्तजीने कहा है—"ऊर्ध्व सञ्चरण ही वर्गहीन सञ्चरण हो सकता है, और वर्गहीनताका अर्थ केवल अन्तरैक्यपर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है। अतः मानवताको वर्गहीन बननेके लिए समतल प्रसारगामीके साथ ऊर्ध्व विकासकामी बनना ही पड़ेगा, जो हमारे युगकी एकान्त आवश्यकता है।"

'बादल' के अतिरिक्त 'ज्योत्स्ना' और 'स्वर्णकिरण' में भी ऊर्ध्व विकास ही पार्थिव जीवनके विषम धरातलको समतल कर देता है। यह भावात्मक दृष्टिसे ही नहीं, वास्तविक दृष्टिसे भी प्रत्यक्ष सत्य है। ऊर्ध्व विकास चाहे 'बादल'की तरह पार्थिव जीवनका ही अवदान हो, चाहे 'ज्योत्स्ना' और 'स्वर्णकिरण' की तरह अपार्थिव लोकका ही अनुदान हो, दोनों ही स्थितिमें एक ही सात्त्विक परिणाम निकलता है—मनको ऊँचे उठना पड़ता है, उदात्त बनना पड़ता है, प्राकृतको सुसंस्कृत होना पड़ता है।

'उत्तरा' की प्रस्तावनामें पन्तजी कहते हैं—"हम इसे अच्छी तरह समझ लें कि ये दोनों धरातल बाहरसे भिन्न होनेपर भी तत्त्वतः अभिन्न तथा एक दूसरेके पूरक हैं।"—इसी अभिन्न रूपमें उन्होंने भावसत्य और वस्तुसत्यका समन्वय किया है—"युगवाणी तथा ग्राम्यामें यदि ऊर्ध्वमानों-का सम धरातलपर समन्वय हुआ है तो 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में समतल मानोंका ऊर्ध्व धरातलपर; जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्यकी ओर निर्देश करते हैं।"—एकलक्ष्यताकी दृष्टिसे पन्तजीने 'पर्यालोचन' में स्पष्ट कहा है—"ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्मदर्शनमें मुझे किसी प्रकारका विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनोंका लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवादके अन्दर श्रमजीवियोंके सङ्गठन, वर्ग-संघर्ष आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य दृश्यको, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पनाका अङ्ग नहीं बनने दिया है।"

पन्तजी जीवनके स्थायी निर्माणकी ओर हैं। तात्कालिक परिस्थि-तियोंके पिष्टपेषणमें उन्होंने चिन्तनका अपव्यय नहीं किया, क्योंकि वे देखते हैं—"अणु बमके आगमनके बाद हमारे अग्निभुज सैनिक, शक्ति-कामी राजनीतिक, तथा अधिकार-क्षुब्ध लोकसङ्गठनोंका सत्य अपने आप ही जैसे निरस्त्र तथा परास्त हो गया है।"

हिंसात्मक प्रवृत्तियोंको उनके भाग्यपर छोड़कर पन्तजीने जीवनके सूक्ष्म और स्थूल चिरन्तन रचनात्मक तत्त्वोंका समन्वय किया है। उनके समन्वयमें 'ईश्वरसे इन्द्रिय जीवन तक एक सञ्चरण' है। राजनीतिक रूढ़ियोंमें राष्ट्रीयताकी तरह ही धार्मिक रूढ़ियोंमें मानव-जीवन भी अभी स्वर्ग-नरक, लोक-परलोकमें खण्ड-विभाजित है, उसमें भीरुता और स्वार्थ-परायणता है, आध्यात्मिकता (सर्वात्ममयता) नहीं है। कवि उद्बोधित करता है—

एक मनुज हो, एक धरा हो,—
यही भागवत जीवन निश्चित।

—'वाणी'

मनुष्यकी, पृथ्वीकी, और युग-युगकी एकताका सूत्रधार कौन है? समन्वयका संयोजक कौन है? वह है सत्य, वह है 'सौवर्ण', जो अपना परिचय इन शब्दोंमें देता है—

प्रथम एक, अविभक्त सत्य मैं, फिर जड़ चेतन,
मैं ही मूर्त्त प्रकाश, सूक्ष्म औ' स्थूल जगत के।

कविने सत्यको ईश्वर अथवा एक ऐसी शाश्वत सत्ता कहा है जो जड़-चेतन सबमें अन्तर्व्याप्त भी है और उनसे परे असीम एवं अनन्त है। पुरानी भाषामें 'ईश्वर जीव अंश अविनाशी' है और 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' है।

अपनी सांस्कृतिक रचनाओंके सम्बन्धमें पन्तजी 'रश्मिबन्ध'के 'परि-दर्शन'में कहते हैं—"उनमें केवल समन्वयवादी या अध्यात्मवादी बौद्धिक दर्शन ही नहीं है—उनमें मेरी समस्त जीवन-अनुभूतियोंका ('ग्राम्या'की हरीतिमाका भी) निचोड़ है।"

अपने चिन्तन और अनुभूतिसे पन्तने जो 'पुष्कल चैतन्य' दिया है, समन्वयमें वही उनकी अतिरिक्त विशेषता है। छायावाद-युगमें जैसे परम्परासे प्रेरणा लेकर उन्होंने भाव और कलाका विकास किया वैसे ही समन्वयवादी विचारधाराका भी विकास किया। तन-मन-प्राण-आत्मा, सब नखसे शिख तक समग्र होकर जैसे केशबन्धमें चूड़ान्त हो जाते हैं वैसे ही पन्तके समन्वयमें विविध युग भी उपान्त हो गये हैं। कलाकी भाषा में जैसे चित्रके विविध वर्ण एकसार हो जाते हैं, वैसे ही पन्तके समन्वय में विविध उपादान एक सम्प्रेषण बन गये हैं। कैसे?—

> नव सङ्कृतिमें सँजो परिस्थितियोंकी भू को।
> नवल सन्तुलन भर बहिरन्तरके यथार्थमें।
>
> —'सौवर्ण'

'नव सङ्कृति' और 'नवल सन्तुलन' ही कविकी नयी कला और नया जीवन-दर्शन है, इसीसे उसका समन्वय भी नवीन (सगुण) हो गया है।

अपनी अभीष्ट स्वर्गीय सृष्टिके लिए पन्तने पृथ्वीको ही चित्रपट बनाया है। 'वाणी'की 'आत्मिका'में उन्होंने कहा है—

> मनुज धराको छोड़ कहीं भी
> स्वर्ग नहीं सम्भव, यह निश्चित।

यह स्वर्ग क्या है? यह मनुष्यका सुष्ठु स्वभाव अथवा सात्त्विक अन्तर्निर्माण है—

> "प्रीतियुक्त जन, शीलयुक्त मन,
> उपचेतन - प्राङ्गण रुचि - संस्कृत"

धरापर ही स्वर्गकी तरह पन्तने वास्तविकताके ही आधारपर आदर्श की स्थापना की है। 'शिल्पी' में कहा है—

> वस्तु परिस्थितियोंकी ही सङ्गठित चेतना,
> जिसपर जीवन-मूल्य निखिल अवलम्बित रहते,
> और प्रतिफलित होती जो सौन्दर्य-कलामें,-
> वह मानवके अन्तरमें आदर्शोंका भी
> रूप ग्रहण कर लेती अन्तःसंयोजित हो।

—यही अध्यात्मका व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक विधान है।

पन्तने जिस चेतना (सांस्कृतिक चेतना) को मानवमें और उसके विशद संस्करण समाजमें सङ्गठित अथवा अन्तःसंयोजित देखना चाहा है, वह सभी युगोंके लिए अनिवार्य है, क्योंकि मनुष्य और समाजका अस्तित्व सभी युगोंमें है। वर्त्तमान भी अपनेमें समग्र युग है, अतएव, चेतनाको उसीमें चरितार्थ करना चाहिए। 'सौवर्ण' में कहा है—

> सत्य भविष्यत् नहीं, भूलमय वर्त्तमान है,
> वही भविष्यत् होगा जिसे बनायेंगे हम।
> वर्त्तमान, जो चिर अतीतकी परम्परा का
> मूर्त्त रूप है, वही सत्य है, वही प्रगतिका
> युग-विकासका मापदण्ड है,—यह अकाट्य है।
> जैसा मैंने कहीं पढ़ा,—हम जो जीते हैं,
> हम्हीं सत्य हैं! वर्त्तमान क्षणके पुटमें ही
> हमें बाँधना होगा जीवनके शाश्वत को।

सम्प्रति वर्तमान तामसिक प्रवृत्तियोंसे आच्छन्न है। किन्तु कवि निराश नहीं होता, युगके अन्धकारपूर्ण वातावरणको आर्ष दृष्टिसे देखकर

वह अनुभव करता है—'भून निशा ही देव जागरणकी बेला भी।' अतएव, वह आश्वासन देता है—

दिव्य तमस यह दिव्य विभामें होगा वितरित
दीपित कर भय विस्मयको आशा प्रतीति से।

—'सौवर्ण'

तम और प्रकाशकी सन्धिबेलामें वर्तमान युग द्वाभाका युग है। घनीभूत अन्धकार तो प्रत्यक्ष है, किन्तु प्रकाश ओझल है, फिर भी भविष्यकी आभादेही संस्कृति चिन्तनशील मस्तिष्कोंमें उदित हो रही है—'केसर की बयारी ज्यों हंसती सरोवरोंमें'।

पन्तने अपनी सांस्कृतिक रचनाओंको 'भविष्यकी अस्पष्ट झाँकियाँ' अथवा नवीन चेतनाकी मर्मर-ध्वनि क्षीण 'प्रतिध्वनियाँ' कहा है। उनके सामने कला (अभिव्यक्ति) की यह समस्या है—

नहीं जानता, कैसे इस संक्रान्ति-काल की
नित्य बदलती हुई वास्तविकताके पटमें
मूर्तित करूँ चिरन्तन सत्य मनुज आत्माका !

—'शिल्पी'

'रजत शिखर' में भी कलाका यही प्रश्न है—'कैसे भू को जीवन-शोभा में लिपटायें ?'

प्रश्न विवर्णमुख क्षुधातुर परिस्थितियोंके कारण ही नहीं, पुरानी मान्यताओं और पुरानी कलाके कारण भी उपस्थित हुआ है। नयी कलाकी दृष्टिसे उत्तर 'सौवर्ण'में मिलता है—

विकृत प्रचारों, भावावेशोंसे हत, मूर्च्छित—
शब्दशक्तिका नवोद्धार कर, नव मूल्योंका

उसे प्रतीक बना, मार्जित रुचिसे सँवारकर
मानवके भीतर करना है हमें प्रतिष्ठित।

पन्तने विविध रूपकों, प्रतीकों और दृश्यचित्रों-द्वारा भविष्यका आभास देनेका प्रयत्न किया है। फिर भी वह वर्तमान नहीं, 'प्रतिमान' है।

पन्तजीके काव्यरूपकोंमें यदि कथनोपकथनके अतिरिक्त क्रियात्मक व्यापार ('लोककर्म') भी आ जाता तो उनका 'प्रतिमान' सामाजिक साक्ष्य भी पा जाता। इसीके अभावमें संघर्ष और निर्माण नेपथ्यमें ओझल रह गया है। कह सकते हैं कि 'लोककर्म' अभी समाजमें जीवन्त नहीं है, अतएव भावों और विचारोंसे उसका अनुमान मात्र किया जा सकता है। फिर भी 'ज्योत्स्ना'में उसका कुछ काल्पनिक आभास मिलता है।

सामाजिक साक्ष्यके लिए, व्यावहारिक दृष्टान्तके लिए पन्तजीको प्रत्यक्ष चित्रपट (कर्मक्षेत्र) चाहिए; उनकी आस्थाके अनुरूप वह या तो सेवाग्रामसे मिल सकता था, या अरविन्द-आश्रमसे। 'शिल्पी'में उन्होंने अरविन्द आश्रमको 'जीवन-संस्थान'के रूपमें प्रतिष्ठित किया है, किन्तु क्या वह 'ग्राम्या'की तरह जीवन्त और रसवन्त है ? 'वाणी'के 'विकास-क्षेत्र'में कविको अपना रचनात्मक केन्द्र मिल गया है—

"मुझको भाया यह प्रदेश : बोला अन्तर्मन,
ग्राम्याका संस्कार करो, जड़ हो नवचेतन"

—'ग्राम्याका संस्कार' करके विचारोंको भावोंमें ही नहीं, कर्ममें भी रूपायित किया जा सकता है।

पन्तके काव्यरूपक रङ्गमञ्चके नाटक न होते हुए भी भावों और विचारोंकी दृष्टिसे सजीव हैं और कलाकी श्रीवृद्धि करते हैं। इतना विशद चिन्तन और प्रशस्त चित्रण आधुनिक विश्व-साहित्यको और कौन दे रहा है !

'पर्यालोचन'में पन्तजीने कहा है—"वीणासे ग्राम्या तक, अपनी सभी रचनाओंमें मैंने कल्पना ही को वाणी दी है, और उसीका प्रभाव उनपर मुख्य रूपसे रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टिके लिए गौण रूपसे काम करते रहे हैं।"—यही बात 'वीणा'से लेकर 'वाणी' तकके लिए भी कही जा सकती है।

पन्तजी अब भी कवि हैं। अपनी कल्पनासे अदृश्यमें ओझल संस्कृति-की छाया-छवियोंका उन्होंने कैसा भाव-सूक्ष्म रूपाभास दे दिया है—'भावी-की अश्रुत चापों-सी आकृति धरतीं।'

पन्तने कहीं लिखा है—'साधक मैं नहीं, आराधक।'—सचमुच वे अपनी सांस्कृतिक निष्ठा अथवा आध्यात्मिक आस्थामें भविष्यके लोकेश्वरकी आराधना कर रहे हैं—

> दिशा-कालके हरित हर्म्यमें अनुक्षण
> सुनता हूँ पदचाप तुम्हारी निःस्वर,
> तुमसे आ, तुममें ही लय होते नित
> सृजन-हर्षसे प्रेरित विश्व-चराचर।
>
> —'वाणी'

पन्तकी उत्तरकालीन रचनाओंमें इसी विश्वात्माकी 'पदचाप' है, इसी-की आगमनी, सञ्जीवनी, उद्बोधनी और प्रभातफेरी है।

[३]

कला और रागात्मकता

'गुञ्जन' से ही पन्तकी कला और जीवन-दर्शनमें परिवर्तन आरम्भ हो गया। यद्यपि 'भावी पत्नी', 'चाँदनी' और 'अप्सरा' में 'पल्लव' का काव्य-संस्कार शेष है, तथापि छायावादकी सुकोमल कला और करुण

अध्यात्म छोड़कर कवि एक नवीन जीवनीशक्ति ग्रहण करने लगा। वह तपोमुख हो गया—

'जल-जल प्राणों के अलि उन्मन
करते स्पन्दन, करते गुञ्जन।'

'पल्लव' में कल्पना और भावुकता थी, 'गुञ्जन' में इस कविजनोचित स्वाभाविकताके अतिरिक्त लोकानुभूति और व्यापक चिन्तनशीलता भी आ गयी। जीवनके सूक्ष्म दृष्टिकोणके कारण कलामें भी सूक्ष्मता बनी रही। भाव, भाषा, छन्द और शैलीमें 'पल्लव' की अपेक्षा कुछ और नवीनता आ गयी। 'पल्लव' शब्दप्रधान है, 'गुञ्जन' 'वीणा' की तरह राग-प्रधान है; इसीलिए इसका सङ्गीत मार्मिक है।

'गुञ्जन' में कविने कहा है—

खिलती मधु की नव कलियाँ
खिल रे खिल रे मेरे मन!

इसी उल्लसित प्रेरणासे 'गुञ्जन' में कविके मानस-शतदलने अनेक पंखुड़ियाँ खोली हैं—

'खुल-खुल नव-नव इच्छाएँ
फैलातीं जीवन के दल।'

यद्यपि 'गुञ्जन' के 'मधु' में 'पल्लव' के सौन्दर्य और प्रणयका सम्मोहन और संवेदन है, तथापि मधु शृङ्गार रसमें ही सीमित नहीं हो गया है, वह जीवनकी सम्पूर्ण मधुरता और सुन्दरतामें व्यक्त हुआ है—

"गाता खग प्रातः उठकर
सुन्दर, सुखमय जग-जीवन,
गाता खग सन्ध्या-तटपर
मङ्गल, मधुमय जग-जीवन।"

जीवनकी तरह 'गुञ्जन' में कला की भी अनेक पंखुड़ियाँ (अभि-व्यक्तियाँ) फूटी हैं। इसमें गीत भी हैं, प्रगीत भी हैं, पद्य भी हैं और काव्य-प्रबन्ध ('एक तारा', 'नौका-विहार') भी हैं।

'पल्लव' में लालित्य था, 'गुञ्जन' में ओज है। कविकी रागात्म-कता ओजके लिए गद्योन्मुख हो गयी। उसका मूल संस्कार भावात्मक और गीतात्मक है, अतएव वह भावसे ही चिन्तन और गीतसे ही गद्यको साधने लगा। कुछ पद्योंमें भाव और चिन्तन, गीत और गद्यमें समरसता नहीं आ सकी, उसका स्वर कहीं-कहीं विशृङ्खल हो गया। क्रमशः जब चिन्तन और गद्य राध गया तब उसका मनोरम विकास कई गीतों-प्रगीतों और काव्य-प्रबन्धों ('एकतारा', 'नौका-विहार') में हुआ। दोनों काव्य-प्रबन्ध अप्रतिम हैं।

'गुञ्जन' : अनुभूति और अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे पन्तके परवर्त्ती काव्यों-का परिपूर्ण पूर्वायोजन है। यद्यपि अभिव्यक्तिकी तरह युगके सुख-दुःखसे लेकर आत्मचिन्तन तक 'गुञ्जन' की अनुभूतियोंमें भी विविधता है, तथापि इसमें अध्यात्मकी ही प्रधानता है। पन्तके परवर्त्ती काव्योंमें भी अनुभूतियोंका ऐसा ही समावेश और आत्मोन्मेष है।

'गुञ्जन' के अध्यात्ममें भी पार्थिव जीवनके ही सौन्दर्य और माधुर्यकी आकांक्षा है—

"जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु-लघु तृण, तरु पर
हे चिर-अव्यय, चिर नूतन !

....

बरसो सुख बन, सुखमा बन,
बरसो जग-जीवन के घन !
दिशि-दिशि में औ' पल-पल में,
बरसो संसृति के सावन !"

'गुञ्जन' के बाद 'ज्योत्स्ना' पन्तका नाट्यप्रयोग है। एक सजीव फड़क और नाटकीय व्यञ्जकता 'गुञ्जन'की काव्यशैलीमें ही आ गयी थी। 'ज्योत्स्ना' में 'गुञ्जन' का गद्य और गीत-संस्कार अधिक स्पष्ट और सघन होकर दृश्यकाव्य बन गया है, 'गुञ्जन' का भाष्य हो गया है।

'ज्योत्स्ना' में अपना स्वप्न और सङ्गीत (जीवन-दर्शन और कला) सँजोकर भी पन्तजी अतृप्त ही रह गये। उन्हें छायावादसे उपराम हो गया। उनका असन्तोष 'युगान्त' में व्यक्त हुआ। 'द्रुत झरो जगतके जीर्ण पत्र' में उन्होंने मानो 'पल्लव'-कालकी कला और वातावरणको अल्टि-मेटम् (अल्टिमेटम) दे दिया, किन्तु छायावादकी सौन्दर्य-दृष्टि और अन्तर्मुखी वृत्ति बनी रही। हाँ, अस्पष्ट अध्यात्मका मुख 'बापू' में स्पष्ट हो गया, छायावाद गान्धीवादके सम्पर्कमें आ गया।

'युगान्त' की नवीनता जीवन-दर्शनकी दृष्टिसे नहीं, कलाकी दृष्टिसे है। द्विवेदी-युगके बाद इसमें पद्यने पुनः छायावादका नया किशोर-कण्ठ पा लिया। इस नवल सहज सुकोमल कण्ठके पद्यका मधुर प्रस्फुटन कतिपय

भावगीतोंमें हुआ है। फिर भी सङ्गीत नहीं, चित्र 'युगान्त' का काव्य-शिल्प है।

शब्द, छन्द, भाषा, अनुप्रास, सब कुछ जैसे 'युगान्त' में स्तब्ध है, भाराक्रान्त है। कवि बहुत कुछ कहना चाहता है, किन्तु किसलय-कलित कण्ठसे कह नहीं पाता; 'द्रुत झरो जगतके जीर्ण पत्र' में अपनी पहिली साँसका आवेश फूंककर उसका ओज यत्र-तत्र अन्यत्र श्लथ हो गया है। उसने गद्यके ओजको भावके सङ्गीतसे प्रवाहित करना चाहा, किन्तु उसकी नयी शिराएँ साथ नहीं दे सकीं। अन्ततोगत्वा कलाके सर्वाङ्गीण साज-शृङ्गार-का मोह छोड़कर कविने पद्यको ही सादगीसे साध लिया। वही 'बापू' में विशद और सशक्त हो गया।

दूजकी चन्द्रकला-सी 'युगान्त'की कई छोटी-छोटी रचनाओंमें पद्यने बहुत सरल-तरल-गत्वर व्यक्तित्व पाया है, द्विवेदी-युगके इतिवृत्तात्मक पद्यकी अपेक्षा रागात्मकता और संवेदना इसकी विशेषता है। यही सहज-सजीव हार्दिक व्यक्तित्व 'बापू' में भी मिलना चाहिए था, इसके अभावमें वह शुष्क और ज्ञान-गरिष्ठ हो गया है।

'युगान्त' को एक विचारणीय प्रयोगके रूपमें स्थगित कर कवि 'युग-वाणी' की ओर चला गया।

'युगवाणी' को कविने 'गीत-गद्य' कहा है। 'गीत-गद्य' के गीतमें गद्य युग-जीवनके गद्यका पद्यान्तर है, न कि भाषाके गद्यका। इस तरह यद्यपि गद्य भी काव्यका भावात्मक प्रयोग बन गया है, तथापि उसमें युग-जीवन-की वास्तविकतासे प्रेरित भाषाके गद्यका भी आ जाना स्वाभाविक है। 'युगान्त'में उसने गद्यको भाव (गीत) का सङ्गीत देना चाहा है, 'गुञ्जन' में गीतको गद्यका ओज देनेका प्रयत्न किया है। 'गुञ्जन' में जैसे यत्र-तत्र चिन्तन जटिल हो गया है, वैसे ही 'युगवाणी' में बौद्धिक विश्लेषण भी। किन्तु 'गुञ्जन'की तरह 'युगवाणी'में भी जीवन-दर्शन प्रायः 'कलात्मक भाव' बन गया है। अन्तर यह है कि 'गुञ्जन' में गीत,

काव्य है; 'युगवाणी' में गीत, गद्य है। शिल्प (शब्द और लय, चित्र और सङ्गीत) की सूक्ष्मता दोनोंमें है, 'गुञ्जन' के प्रि' और 'युगवाणी' की 'वीणापाणि, इ !' की तरह।

'गुञ्जन'के बाद 'युगान्त'में कविने शब्द, छन्द, भाषा, अनुप्राससे कलाका जो अवकाश ले लिया था, वह उसकी तत्कालीन मनःस्थितिका सूचक था। गद्यकी तरह जीवनके वास्तविक चित्रपटपर कलाको मूर्त्त करने-का प्रश्न उसके सामने था। इसके लिए उस समय वह तैयार नहीं था, क्योंकि अपने 'क्रूड फॉर्म'में था। चिन्तनसे कुछ स्पष्ट सङ्केत पाकर जीवन और कलाकी नयी समस्याका रचनात्मक समाधान उसने 'युगवाणी'-से दिया।

कलाकी दृष्टिसे कवि फिर छायावादकी ओर नहीं लौटना चाहता था, वह उसे इन्द्रधनुपी जान पड़ता था—

इन्द्रधनुष ? क्या इन्द्रधनुप
स्थायी रहता अम्बर में ?
वह छाया-केतन फहराता
मेघों के खण्डहर में !

—'अतिमा'

छायावादका सतरंगी कलावरण छूट गया, किन्तु उसका भावात्मक संस्कार नहीं छूटा, कविके ही शब्दोंमें—

गीत गल गया सही,
मधुर झङ्कार नहीं पर खोई
सूक्ष्म भाव के पङ्ख खोल
अब मनमें गन्ध समोई

—'अतिमा'

'युगवाणी'-कालमें कविकी कला-सम्बन्धी जो नयी धारणा काव्य-निर्माण कर रही थी, वही 'अतिमा' की उपरोक्त पंक्तियोंमें मुखरित होकर पन्तके परवर्ती काव्योंके भी कला-पक्षको अंशतः सूचित करती है। 'युगवाणी' में भी कहा है—

खुल गये छन्द के बन्ध
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास।

छन्दके बन्ध खुल गये, अन्त्यानुप्रास स्वतन्त्र हो गया, गीत गलकर स्वर्णिम गद्य हो गया; तो फिर 'युगवाणी' और प्रयोगवादी नयी कवितामें क्या अन्तर है? 'रश्मिबन्ध' के परिदर्शनमें पन्तजी कहते हैं—"छन्दोंकी दृष्टिसे नयी कविताने किसी प्रकारके महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रयोग नहीं किये हैं। अधिकतर छन्दोंका अञ्चल छोड़कर तथा शब्दलयको न सँभाल सकनेके कारण वह अर्थलय अथवा भावलयकी खोजमें लयहीन, स्वरसङ्गति-हीन गद्यबद्ध पंक्तियोंको काव्यके लिबासमें उपस्थित कर रही है, जो बहुधा भावाभिव्यक्तिको सहायता पहुँचानेमें असमर्थ प्रतीत होती है।"

'युगवाणी' का गीत-गद्य मुक्त और स्वतन्त्र होकर भी लययुक्त और सस्वर है, उसके उद्गारोंमें भावानुकूल पद-प्रवाहका सङ्गीत है। उसमें मुक्तछन्द मुक्त गीत है। उसका मुक्त छन्द छन्द-हीनताका द्योतक नहीं, वह कहीं स्वरमात्रिक है, कहीं अक्षरमात्रिक। गीतको ही नया लय देनेके लिए छन्द मुक्त है। इसके विपरीत प्रयोगवाद विच्छन्द है, उसने नाटकीय आवेगपूर्ण गद्यको पद्यके चरणोंके रूपमें सँवार दिया है।

छायावादमें (विशेषतः 'पल्लव' में) रूप, रागसे स्पन्दित हुआ था; 'युगवाणी' में राग, रूपसे चित्रित हुआ। रूपका अस्तित्व दोनों युगोंमें था,

इसके विना तो कविता निर्गुण हो जाती। दोनों युगोंके रूपमें अन्तर पुराने सौन्दर्य और नये आकारका पड़ गया। छायावादका सौन्दर्य मानसिक अथवा अलौकिक था, 'युगवाणी' का आकार सामाजिक अथवा ऐहिक है। कविने अपना दृष्टिकोण इन शब्दोंमें स्पष्ट किया है—

बन गये कलात्मक भाव
जगत् के रूप नाम
....
कला के कल्पित माप-मान
बन गये स्थूल,
जग-जीवन से हो एकप्राण।

छायावादमें भाव-जगत्‌ने ही सौन्दर्य धारण किया था, 'युगवाणी' में वस्तु-जगत्‌ने कलाका आकार-प्रकार धारण किया। कोरे यथार्थवादसे भिन्न दोनोंमें विगत और भविष्यत् संस्कृतिकी सुरुचि है। अभिव्यक्त (भाव और वस्तु) के अनुरूप ही स्वभावतः दोनोंकी कला (अभिव्यक्ति) में भी अन्तर पड़ गया।

कवि कहता है—

मुझे रूप ही भाता
प्राण ! रूप ही मेरे उर में
मधुर भाव बन जाता।
मुझे रूप ही भाता।

रूप—भाव कैसे बन जाता है? 'प्राण !'—सम्बोधनसे सूचित होता है, रूप निष्प्राण शव नहीं, प्राणसे प्राणान्वित शिव है; अतएव रूपका भाव बन जाना उसका जीवन्त गुण है।

रूपमें जो प्राण है, जो रागात्मक जीव है, संस्कृति भी उसीकी भाव-सृष्टि है। कविके शब्दोंमें—'जीव-जनित जो सहज भावना संस्कृति उससे निर्मित।'—इसी 'जीव-जनित सहज भावना' से जब कविता भी निःसृत होती है तब उसकी भावुकतामें भी वास्तविकता आ जाती है, कलामें भी स्वाभाविकता आ जाती है।

संस्कृति, कविता, कलाकी तरह ही सौन्दर्य भी प्राणवन्त है। वह बहिर्दृष्टिका दृश्य-दर्शन नहीं, अन्तर्दृष्टिका रूप-सृजन है। कवि कहता है—

इस विश्री जगती में कुत्सित
अन्तर-चितवनसे चुन-चुनकर
सार-भाग जीवन का सुन्दर
मानव! भावी मानव के हित
जीवन-पथ कर जाओ ज्योतित।

यह 'अन्तर-चितवन' क्या बिहारीकी नायिकाकी वह 'चितवन' है 'जेहि बस होत सुजान ?' नहीं, उस चितवनमें केवल शृङ्गारिक आकर्षण है, 'युगवाणी' की 'अन्तर-चितवन' में सम्पूर्ण जीवनका सांस्कृतिक संश्लेषण है। इसमें 'चितवन' अन्तर्दृष्टिकी जागरूक कला अथवा चेतनाकी सुरुचि है। 'युगवाणी' में संस्कृति, कविता, कला, सौन्दर्य; सब सत्यं-शिवं-सुन्दरम्की तरह ही पर्याय हैं, एक ही भावके विविध रूप हैं।

'पर्यालोचन' में पन्तजीने कहा है—"पल्लवसे गुञ्जन तक मेरी भाषामें एक प्रकारके अलङ्कार रहे हैं, और वे अलङ्कार भाषा-सङ्गीतको प्रेरणा देनेवाले तथा भाव-सौन्दर्यकी पुष्टि करनेवाले रहे हैं। बादकी रचनाओंमें भाषाके अधिक बुद्धिगर्भित हो जानेके कारण मेरी अलङ्कारिता अभिव्यक्तिजनित हो गयी है।"

'युगवाणी' का प्रेरक बौद्धिक दर्शन भले ही हो, किन्तु उसमें

भापा और भाव सर्वत्र बुद्‌गर्भित नहीं है, अधिकांशतः वह अनुभूतिप्रवण हृदयसे अनायास अनुप्राणित है। कवि कहता है—

वस्तु-ज्ञान से ऊब गया मैं,
सूखे मरु में डूब गया मैं,
मेरे स्वप्नों की छाया में
जग का वस्तु-सत्य जावे खो।

जो कवि स्वप्नदर्शी है वह कवितामें केवल बुद्‌धिवादी तथा वस्तुवादी ही कैसे हो सकता है, वह तो अपनी अन्तर-चितवनमें सौन्दर्यवादी अथवा कलावादी भी है। उसका यह मूल कवि-व्यक्तित्व पहिले की तरह इस लिए विरल नहीं दिखाई पड़ता है कि उसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रक्रियाओं (विश्लेपण, संश्लेषण, उन्मेषण, चित्रण) में विकीर्ण हो गयी है।

'युगवाणी' में कई तरहकी कविताएँ हैं।

कुछ पद्य हैं (जैसे 'मार्क्सके प्रति', 'साम्राज्यवाद', 'समाजवाद-गान्धी-वाद', 'सङ्कीर्ण भौतिकवादियोंके प्रति', 'धनपति', 'कृषक', 'श्रमजीवी' इत्यादि)। इन छोटे-छोटे मुक्तक पद्योंमें बौद्‌धिक उन्मेषण है, किन्तु बुद्‌धिकी जटिलता नहीं, प्राञ्जल गम्भीरता और रागकी ओजस्विता है। 'पल्लव' का सजल गीतकाव्य जैसे 'गुञ्जन' में चिन्तनसे ठोस हो गया, वैसे ही 'युगान्त' का तरल-हृदय पद्य 'युगवाणी' में विचारसे परिपक्व हो गया।

कुछ गीत-गद्य हैं (जैसे 'दो मित्र',' झंझामें नीम', 'ओसके प्रति', 'ओसबिन्दु')। 'दो मित्र' में सहज स्वाभाविक शिशु व्यक्तित्वका सजीव चित्र है, 'दोनों चिलबिल' चिलबिले बच्चोंकी तरह ही पहिचाने-से लगते हैं। 'झंझामें नीम' ध्वनि और गतिका, कम्पन और संवेदनका जीवन्त शब्दचित्र है। 'ओसके प्रति' में रूप और राग-द्रवण है। 'ओसबिन्दु' में बच्चोंका-सा गुपचुप क्रीड़ा-कौतुक है—

"कलरव करते, किलकार, रार
ये मौन-मूक,—तृण तरु दल पर,
तकते अपलक, निश्चल सोये,
उड़-उड़ पङ्खड़ियों पर सुन्दर।"

ये ओस नहीं, बाल विहग हैं; एक पंखुड़ीसे दूसरी पंखुड़ीपर अचानक इस तरह ढुलक पड़ते हैं मानो फुदक रहे हों। 'किलकार रार' में कैसी शिशु-सुलभ स्वाभाविकता है! इसी तरह सीधे-सादे दैनिक शब्दों द्वारा कविने कई कविताओंमें दृश्यको सजीव कर दिया है।

दो-एक गीत भी हैं (जैसे 'घननाद', 'युग-नृत्य')। ये दोनों सशक्त और विशुद्ध भाव-गीत हैं। 'घननाद' में सघन ध्वनि-चित्र है, 'युगनृत्य' में तड़ित गति-चित्र। दोनों गीत ठीक अर्थमें युग-गीत हैं।

कुछ प्रगीत हैं (जैसे 'गङ्गाकी साँझ', 'गङ्गाका प्रभात', 'हरीतिमा', 'मधुके स्वप्न', 'पलाश', 'पलाशके प्रति' 'बदलीका प्रभात' : 'धूमिल सजल प्रभात')।

ये प्रगीत प्रायः रंगचित्र हैं। चाहे रेखाचित्र हों, चाहे रंगचित्र, चाहे अन्य चित्र; सभी तरहके चित्रोंमें 'युगवाणी' के शब्द केवल शब्द नहीं, सृष्टि हैं। 'गङ्गाकी साँझ' और 'गङ्गाका प्रभात'में शब्दोंकी चित्र-सजीवता और स्वाभाविकता देखी जा सकती है।

चित्रके साथ पन्तजीका चिन्तन भी संश्लिष्ट हो जाता है। चित्रण और चिन्तनका साथ 'गुञ्जन' से चला आ रहा है। चिन्तन जब चित्रसे समरस हो जाता है तब सुसङ्गत जान पड़ता है, जैसे 'गङ्गाकी साँझ' में। वह पूर्ण जीवन्त कविता है। 'गङ्गाका प्रभात'में चित्र और चिन्तनकी वैसी समरसता नहीं है। उसमें चिन्तन विचार बन गया है। कवितामें विचारका अपना एक स्वतन्त्र स्थान है, वह पद्यके लिए उपयुक्त है।

क्या चिन्तन और विचार (संश्लेषण और विश्लेषण) के बिना कविता केवल चित्रणसे प्रभावशाली नहीं हो सकती ? कविता तो स्वतः स्फूर्त अपनेमें एक कलाभिव्यञ्जन है; उसका सम्बल राग है, चिन्तन और विचार नहीं ।

'युगवाणी'में केवल चित्रणसे ही कई कविताएँ सजीव हो गयी हैं, जैसे 'हरीतिमा'—

> हँसते भूके अँग-अँग,
> हरित - हरित रँग !
> ....
> भव-संस्कृति भावित रँग
> हरित - हरित रँग ।

चित्रोंके रूप-रंगके अनुरूप ही 'युगवाणी' में राग भी कहीं मृदु मन्द्र है, कहीं तीव्र है : जैसे 'पलाशके प्रति'—

> आज प्रलय-ज्वालामें ज्यों गल गये विश्वके पाश,
> जीवनकी हिल्लोल-लोल उमड़ी छूने आकाश ।

इन पंक्तियोंमें क्रान्ति और युग-चेतनाका कैसा प्राणोत्कर्ष है ! भविष्य के इतिहासका कैसा रसोल्लास है !!

'युगवाणी' : जीवन और कलाकी दृष्टिसे हिन्दी-कवितामें ही नहीं, पन्त की कृतियोंमें भी सर्वथा अकेली और नवोन्मेषिनी रचना है । वह 'युग-वाणी' है ।

'युगान्त'में नये कैशोर्यकी सरलता थी, 'युगवाणी' में नये तारुण्य-की वक्रता थी । 'ग्राम्या'में फिर सरलता आ गयी । 'युगान्त' और 'युग-

वाणी', दोनोंमें किसी अंश तक अलंकृति भी थी। 'ग्राम्या' पूर्णतः निर-लंकृत (कल्पना-रहित काव्य-शिल्प) है। यद्यपि कविने ग्राम्य-जीवनको 'युगवाणी' की ऐतिहासिक दृष्टिसे ही देखा है और इसीलिए उसकी सहानु-भूति बौद्धिक हो गयी है, तथापि उसके दृष्टिकोणने 'ग्राम्या'को अपनी प्रतिकृति नहीं बना दिया है, उसीके वातावरण और व्यक्तित्वको ज्योंका त्यों उपस्थित कर उसपर प्रकाश डाल दिया है। विना इतिहासके ही 'ग्राम्या'-द्वारा हम ग्रामीण भारतको उसके अविकल रूपमें देख और समझ सकते हैं।

'युगवाणी' का गीत-गद्य 'युगवाणी' में ही रह गया, 'ग्राम्या'में पद्य और गीतका नया सहज प्रयोग हुआ। 'भारत माता ग्रामवासिनी' इसीका प्रसिद्ध गीत है। 'युगवाणी'में युगकी रूक्षता भी थी, 'ग्राम्या'में सरसता ही सरसाता है। रसचित्रके अतिरिक्त कई रेखाचित्र भी हैं, दोनों प्रकारके चित्र कितने स्वाभाविक और अकृत्रिम हैं! 'युगवाणी'की तरह 'ग्राम्या' भी कविकी अद्वितीय रचना है। इसे लेकर हिन्दीभाषी विदेशमें भी स्वदेशकी धरतीपर रहेगा।

पन्तजी जीवन और कलाके एक-एक प्रयोग पीछे छोड़कर आगे नये-नये प्रयोगोंकी ओर बढ़ते गये हैं। 'ग्राम्या'के बाद 'स्वर्णकिरण' उनकी काव्यकृति है। दोनोंमें कितना अन्तर है!—एकमें कितनी सरलता है, दूसरेमें कितनी गहन गुरुता!!

'स्वर्णकिरण'में अधिकांशतः काव्य-प्रबन्ध अथवा निबन्ध-काव्य हैं। एकाध गीत, कुछ प्रगीत और कुछ पद्य हैं। सभी सुगठित और सुपाठ्य हैं।

'स्वर्णकिरण'की भाषा यद्यपि अति संस्कृतगर्भित है तथापि वह गद्यकी नहीं, काव्यकी भाषा है; उसमें हिमकी पुञ्जीभूत तरलता है। जीवन-दर्शन बौद्धिक है, किन्तु भावात्मक रूपकों और प्रतीकोंसे वह रुचिकर लगता है। एक शब्दमें 'स्वर्णकिरण' आध्यात्मिक काव्य है।

इसका एकमात्र सन्देश यही है—'आर्यभूमिपर उठे सांस्कृतिक स्वर्गारोहण !'

'युगवाणी'में कविने जिस तरह ऐतिहासिक दृष्टिकोणको पुनः पुनः निक्षेपित किया है, उसी तरह 'स्वर्णकिरण'मे सांस्कृतिक दृष्टिकोणको पुनः पुनः उज्जीवित किया है। यह आरोपित नहीं, उद्भावित है।

'स्वर्णकिरण'से ही कवि अरविन्द-दर्शनका आरम्भ करता है। अरविन्दसे प्रभावित होकर भी वह उन्हींमें पर्यवसित नहीं हो गया है। वेदों और उपनिषदोंके स्वाध्यायकी भाँति उसने अरविन्द-दर्शनका भी स्वतन्त्र मनन-चिन्तन किया है, और इसके पहिले शेली, रवीन्द्र, गान्धी और मार्क्सवादका भी। अध्ययन, मनन, चिन्तनमें उसका जो अपना 'विशिष्ट संस्कार' (जन्मजात संस्कार) है उसी 'पुष्कल चैतन्य' से कवि अपनी विविध कृतियों और विविध विचार-धाराओंका मौलिक समन्वय काव्यरूपकोंमें कर सका है।

'स्वर्णकिरण'की किसी एक कवितामें पन्तकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों और कलाभिव्यक्तियोंका परिपाक देखना हो तो 'स्वर्णोदय' को देखना चाहिए। इसमें नवजन्मा शिशुके रूपमें 'गुहा-बद्ध चित्स्रोत' ही स्खलित होकर जीवन-पथमें प्रवाहित हो गया है। यह नवचेतन मानवकी ही कथा नहीं, कविके जीवन और काव्य-चेतनाकी भी पूर्ण कथा है। युगकी अनेक परिस्थितियों और मान्यताओंमें संसरण करते हुए उस चिरजाग्रत 'चित् स्रोत'-की परिणति अपने सङ्गम सच्चिदानन्दमें हो जाती है।

आकारकी दृष्टिसे ही नहीं, रचना-प्रकारकी दृष्टिसे भी यह बहुत 'बड़ी' कविता है, सर्वथा नवीन शैलीका सफल खण्डकाव्य है।

'स्वर्णकिरण'के बाद 'स्वर्णधूलि', 'युगवाणी'के बाद 'ग्राम्या'की तरह सरल है। 'स्वर्णकिरण'के 'सांस्कृतिक स्वर्गारोहण'को 'स्वर्णधूलि' में सामाजिक धरातल देनेका प्रयत्न किया गया है।

वह स्वर्ग क्या है ? वह मनुष्यकी सात्विक चेतना 'सुधा' है, यह एक सीधी-सादी लघु कथा 'नरकमें स्वर्ग' से स्पष्ट हो जाता है। सुधा मनुष्यकी विकसित कामनाका प्रतीक है, वह 'मनुजोचित विधिसे' सभ्यतामें निर्मित होकर (संस्कृति बनकर) पृथ्वीको स्वर्ग बना सकती है। किन्तु पृथ्वीपर 'सुधा' नहीं, राजनीतिक वातावरणमे उसकी सहेली 'क्षुधा' ही शेष रह गयी है। कवि कहता है—

> 'संस्कृत रे हम नाम मात्रको
> विजयी हममें प्राकृत'
> ....
> 'अभी प्रकृति की तमस शक्तिसे
> मनुज - नियति अनुशासित।'

'ग्राम्या'में कविने कहा था—'यहाँ धराका मुख कुरूप है।'—'ग्राम्या'की धरा (सामाजिक धरातल) का ही नहीं, सारी वसुन्धराका मुख अभी कुरूप है, वह सांस्कृतिक नहीं बन सका है।

'स्वर्णधूलि'में सहज भाषाके अतिरिक्त छन्द और काव्यके रूप-विन्यासमें भी कई नये प्रयोग किये गये हैं। विवेकानन्दके एक विस्तृत गीत और वैदिक मन्त्रोंके अनुवाद भी हैं। अन्तमें एक मनोहर गीतनाट्य 'मानसी' है। इसमें कविका अभीष्ट सामाजिक धरातल और उसपर प्रवाहित चेतनाका सङ्गीत है। गीतोंमें रागके सहज हृदयका स्फुरण है।

'स्वर्णधूलि' : पन्तके सभी परवर्त्ती काव्योंकी सुगम कुञ्जी है।

'युगपथ'में 'युगान्त' और 'युगान्तर' सम्मिलित हैं। 'युगान्तर' मानव-मनका मन्वन्तर है, जिसके युगचिह्न हैं गान्धी-रवीन्द्र-अरविन्द। पद्य, अतुकान्त,, प्रगीत और रूपक, इन विविध काव्यसरणियोंमें 'युगान्तर'

ने अपना 'युगपथ' बनाया है। काव्यरूपक 'त्रिवेणी' में लोकवार्त्ताकी-सी स्वाभाविकता है, यह बच्चोंके लिए भी सुबोध है।

'उत्तरा' पन्तकी सांस्कृतिक गीतावली है। इसमें "कुछ धरती तथा युग जीवन-सम्बन्धी, कुछ प्रकृति तथा वियोग-शृङ्गार-विषयक कविताएँ और कुछ प्रार्थनागीत संगृहीत हैं।"

कविने प्रतीकों और रूपकों-द्वारा सूक्ष्म चेतनाको सदेह किया है। गीतोंमें ओज, माधुर्य और सौन्दर्य हैं। कई गीत रागके स्पन्दनसे बहुत सजीव हो उठे हैं। पन्तजी इसे अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानते हैं।

'अतिमा'में 'उत्तरा'की चेतनाके अतिरिक्त उस चेतनाकी विवेचना, रचनात्मक प्रक्रिया और युगकी प्रवृत्तियोंकी आलोचना है। कुछ काव्य-निबन्ध भी हैं, जैसे 'जन्म-दिवस', 'आः धरती कितना देती है, 'पतझर', 'सन्देश', 'कूर्माचलके प्रति'।

'पतझर'में प्रकृतिका ही नहीं, 'युगान्त'से लेकर अबतककी कृतियोंके भाव, विचार और कलाके उपादान और विधानका भी क्रमिक परिचय मिलता है। पन्तजीकी कविताओंमें एक-एक शब्द बिन्दुमें सिन्धुकी तरह कैसे सारगर्भित चित्र बन जाते हैं, यह 'पतझर' के इन शब्दोंमें देखा जा सकता है—'अनलंकृत सौन्दर्य! प्रकृतिके रेखाचित्र अकल्पित!'—इस वाक्यसे 'पतझर'का स्वाभाविक व्यक्तित्व अनलंकृत किन्तु सशक्त काव्यकी तरह ही प्रत्यक्ष हो जाता है। 'अतिमा' की दो कविताओंसे पन्तकी सामाजिक और आध्यात्मिक चेतनाका बड़ी सरलता और रुचिरतासे स्पष्टीकरण हो जाता है। वे दो कविताएं हैं—'आ: धरती कितना देती है', और, 'सन्देश'। ये दोनों कविताएँ दैनिक अनुभूतियोंकी तरह ही स्वाभाविक हैं। इनमें घरेलूपन है।

'वाणी'में 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' और 'उत्तरा'की काव्य-शैलियोंका समागम है। इसमें कुछ गीत हैं, दो काव्य-प्रबन्ध हैं: 'बुद्धके प्रति', 'आत्मिका'। इन दोनोंमें कविने क्रमशः युग-निरीक्षण और आत्म-

निरीक्षण किया है, सीमाओंसे ऊपर उठकर गिरिशिखरके पथिककी तरह विश्लेषण और संश्लेषण किया है। अतीत और वर्तमानका सर्वेक्षणकर सबका समन्वय और सार-अंश (अमृत-अंश) अपने अनुभूत जीवन-दर्शन-में दे दिया है। 'आत्मिका'के काव्य-विन्यास (शैली) में पन्तकी कलात्मक दृष्टि-भङ्गिमा भी है।

कविने 'घोंघे-शङ्ख (सभी नहीं)' में साहित्यकी नयी गति-विधि (नयी कविता) पर भी दृष्टिपात किया है। एक सुहृद् गुरुजनकी तरह वस्तुस्थितिका निरूपण किया है और स्वस्थ निर्देशन दिया है। वह मान्य है।

'वाणी' केवल 'गञ्च-काव्य या प्रवचन-काव्य' नहीं है। यह सरस गीतकाव्य भी है। 'उत्तरा'की तरह यह भी 'भावभूमि, प्रेरणा-भूमि, आलोक-भूमि' है; जिसमें 'स्तरपर स्तर' और 'दलपर दल' खुले हैं। किन्तु 'उत्तरा'की अपेक्षा कदाचित् 'वाणी'में अधिक राग-तरलता और कला-सूक्ष्मता है। पन्तजी ठीक कहते हैं—

"पल्लव-गुञ्जनकी सूक्ष्म कला-रुचिको मैं अपनी रचनाओंमें बहुत बाद को, परिवर्तित एवं परिणत रूपमें, सम्भवतः 'अतिमा'-'वाणी'के छन्दोंमें, पुनः प्रतिष्ठित कर सका हूँ।"

गीतोंसे ज्ञात होता है, जीवनके अनेक व्याघातोंमें भी पन्तका रस-स्रोत सूख नहीं गया। 'मानसी' तथा अन्य काव्यरूपकों ('शिल्पी', 'रजतशिखर' 'सौवर्ण') के गीत कितने रसात्मक और मार्मिक हैं! इन काव्यरूपकोंमें पन्तने रस और वातावरणके अनुसार जो भावात्मक और मनोवैज्ञानिक वाद्य-साङ्केत किया है, वह उनकी सूक्ष्मतम कलाकारिता और सङ्गीत-मर्मज्ञताका द्योतक है। सच तो यह है कि कविके केवल इङ्गित सङ्गीतसे भी उसकी समस्त रचनाओंका श्रुतिबोध हो जाता है।

जिन लोगोंको 'पल्लव' का रसास्वादन मिल चुका है उन्हें पन्तको इधरकी रचनाएँ माधुर्यकी दृष्टिसे नहीं रुचतीं। 'पल्लव' में केवल काव्यका

लालित्य था, इधरकी रचनाओंमें गद्य-पुष्ट स्थापत्य भी है; अतएव, शुष्कता और परुषता स्वाभाविक है। कलासे स्निग्ध होकर कभी यह स्थापत्य फिर ललित हो जायगा। 'शिल्पी'की तरह ही कविके सामने भी यह प्रश्न है—

निर्मम हृदय शिला! (निश्चल)
कैसे आँकूँ प्रियतम की छवि
जड़ पाषाण जिला!

यह क्या केवल कलाका ही प्रश्न है? यह तो पाषाणको जिलानेके लिए कलाके प्राणप्रस्फुरण राग (स्पन्दन-कम्पन-संवेदन और रस-सञ्चरण) की समस्या है।

रागकी ओर पन्तजीने 'युगवाणी'में ध्यान दिलाया है—

"गूढ़ राग का संवेदन ही
जीवन का इतिहास,
राग शक्ति का विपुल समन्वय
जन-समाज, संवास।"

कलामें कवि इसी रागको रूपाङ्कित करनेकी प्रेरणा देता हूँ—'दुर्निवार यह राग, रागका रूप करो निर्माण।'

राग तो छायावादमें भी था, फिर कवि किस रागका निमन्त्रण दे रहा है?

ऐतिहासिक दृष्टिसे छायावादका राग वैसे ही पुराना पड़ गया है, जैसे छायावादसे पहिले मध्ययुगका राग। कवि नये सामाजिक सन्दर्भमें, अनुभूतियोंके नये क्षेत्रमें रागका पुनर्विकास चाहता है, इसे ही नयी रागात्मकता कहता है।

'युगवाणी' में पन्तजीने रागके जिस रूप-निर्माणका निर्देश किया है, उससे प्रयोगवादमें क्या भिन्नता है ? वह भी तो रूपका आग्रह करता है ।

प्रयोगवादमें रूप रागका नहीं, कलाका है । वह जीवनमें कोई नया प्रयोग नहीं कर रहा है, अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाको ही कलाका रूप दे रहा है । एक शब्दमें, उसमें कोई सांस्कृतिक अथवा सामाजिक चेतना नहीं है, केवल प्रतिक्रिया है । इस समय युगोंका इतिहास अपनी उथल-पुथलसे जो तलछट दे रहा है वही प्रयोगवादमें जीवनका वातावरण और कलाका चित्रण बन गयी है । क्या यही नयी कविता है, यही नया राग है ?

वस्तुतः इस संक्रान्ति-कालमें न कहीं जीवन है, न कहीं राग है । केवल कुण्ठा और द्वेष है । कुण्ठा ही द्वेष बन गयी है । इसीसे समाज विघटित हो रहा है, परिवार विघटित हो रहा है, स्वयं व्यक्ति भी अपने भीतर विघटित हो रहा है, आत्महन्ता बनता जा रहा है । न समाज है, न परिवार है, न व्यक्ति है; सब कुछ निष्पन्द है । प्रगतिवाद स्थापित स्वार्थोंके टूटते हुए सम्बन्धोंको फिर जड़ शरीरसे ही जोड़ना चाहता है । किन्तु कवि रागसे मनुष्यका खण्डित मन जोड़नेका परामर्श देता है । 'उत्तरा' में कहा है—

> "तुम हँससे-हँसते घृणा बन गये
> जनमङ्गल हित हे !
> अब काटो जग का अन्धकार,
> भू के पापों का विषम भार,
> मेटो मानव का अहङ्कार,
> चिर सञ्चित तुम्हें समर्पित है,
> युग परिवर्त्तन में !"

काशी,
२ सितम्बर, १९५९

नयी पीढ़ी : नया साहित्य

२० जून, सन् १९५९ :

कालकी अनन्त यात्रामें आज हम बीसवीं सदीके मध्यमें उपस्थित हैं। हमारे पीछे अनेक शताब्दियाँ अतीत हो चुकी हैं, हमारे आगे अनेक शताब्दियाँ भविष्यमें अदृश्य हैं। आज हम जहाँ उपस्थित हैं वहाँसे पीछेकी ओर उसी तरह देख सकते हैं जिस तरह भविष्यके लोग आजकी ओर देख सकेंगे। आज हम जो वर्त्तमान हैं वे भविष्यके लिए तो अपरिचित नहीं रहेंगे, किन्तु हम भविष्यसे परिचित नहीं हो सकेंगे। तो फिर परिचय-अपरिचयके बीच वह कौन-सा सम्बन्ध-सूत्र है, जिससे हमारे युग-युगके सह-अस्तित्वका आभास मिलेगा और परस्पर तादात्म्य स्थापित होगा? वह है साहित्य और इतिहास।

कविने कहीं कहा है—

> है रे न दिशावधि का मानव
> वह चिर पुराण, वह चिर नूतन

यों तो प्रत्येक युगमें मनुष्य किसी देश-कालमें सीमित नहीं था, किन्तु इसका अनुभव अब वह अधिक स्पष्टतासे करने लगा है। हम आज एक ऐसे युगमें आ गये हैं जब राजनीतिक कारणोंसे सारे देश अन्तर्राष्ट्रीय परिधिमें एक विश्व बनते जा रहे हैं और वैज्ञानिक साधनोंसे विश्व ब्रह्माण्ड बनता जा रहा है; पृथ्वीका विस्तार आकाश तक हो रहा है। एक ओर पार्थिव सीमाएँ फैल रही हैं, दूसरी ओर समय संक्षिप्त होता जा रहा है; पहिले जो भविष्य कहलाता वह वर्त्तमान बनता जा रहा है और वर्त्तमान

कलको ही नहीं, परसोंको भी लेकर अतीत होता जा रहा है। विज्ञान प्रकृतिसे ही नहीं, कालसे भी होड़ कर रहा है।

इस द्रुतगामी युगमें यद्यपि सभी देशोंकी प्रगति एक-सी ही नहीं है, और न सभी देशोंका साहित्य और इतिहास एक-सा है, उनमें अभी विविधता है, तथापि सभी राजनीति और विज्ञानके संक्रमण-कालसे गुज़र रहे हैं।

क़दम आगे-पीछे होते हुए भी सब एक ही भविष्य और एक ही स्तरकी ओर बढ़ रहे हैं, अतएव, नयी पीढ़ी हिन्दीकी ही नहीं, भारतकी ही नहीं, किसी देश-विदेशकी नहीं, सारे संसारकी नयी पीढ़ी है; उसे इसी व्यापक दृष्टिकोणसे देखना चाहिए।

हमारा देश अंग्रेजी, रूसी, फ्रान्सीसी साहित्यसे थोड़ा-बहुत परिचित और प्रभावित हो चुका है। किन्तु ऐसे भी देश हैं जिनके साहित्यसे हम समकालीन होते हुए भी अपरिचित हैं। अखबारोंमें कभी-कभी उनके नाम और राजनीतिक आन्दोलनोंके समाचार मिल जाते हैं, किन्तु इस बाहरी हलचलके भीतर उनके प्राणोंका स्पन्दन साहित्यके द्वारा नहीं मिल सका है। वे दबे हुए अभी उभर रहे हैं, अपने व्यक्तित्वके अनुसार ही स्वतन्त्र अस्तित्व पा जानेपर उनका साहित्य भी श्वास-प्रश्वासकी तरह वायुमण्डलमें तैरता हुआ विश्वव्याप्त हो जायगा।

पर्यवेक्षकके कथनानुसार आज विदेशोंमें साहित्यकी तीन धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं—

"(१) एक है संघर्षात्मक साहित्यकी धारा जो परतन्त्र देशोंमें उद्वेलित है। (२) दूसरी है निर्माणात्मक साहित्यकी धारा, जो समाजवादी देशोंमें उन्मुख है। (३) तीसरी है वैभवशाली किन्तु ह्रासोन्मुख साहित्यकी धारा, जो पश्चिमी यूरोप और दक्षिणी अमेरिकासे पिछड़े देशोंमें पहुँच रही है और समाजवादी साहित्यसे प्रतिस्पर्धा कर रही है।"

जैसे सभी देश अभी एक ही राजनीतिक स्तरपर नहीं हैं, वैसे ही अपनी-अपनी राष्ट्रीय परिधिमें एक ही सामाजिक स्तरपर भी नहीं हैं। उनमें उत्तम, मध्यम, निम्न श्रेणियाँ हैं। वर्ग-वैषम्य ही नहीं, वर्ण-वैषम्य भी है। परम्परा और नवीनता, आस्था और अनास्थाका संस्कार-वैषम्य भी है। साहित्यकी नयी पीढ़ीमें इन सभी श्रेणियों और संस्कारोंके प्रतिनिधि हैं। तो फिर पुरानी और नयी पीढ़ीमें क्या अन्तर है?

ऐसा समझा जाता है कि नयी पीढ़ी नवीनतावादी है, पुरानी पीढ़ी पुरातनतावादी अथवा रूढ़िवादी है। किन्तु पुरानी पीढ़ीमें भी नवीनतावादी हैं और नयी पीढ़ीमें भी पुरातनतावादी हैं। अतएव, पीढ़ियोंके पार्थक्यको पुराने और नये युगकी मान्यताओंमें देखना चाहिए, जिसकी जैसी मान्यता और धारणा हो उसे उसी पीढ़ीमें परिगणित करना चाहिए।

पुरानी और नयी पीढ़ीमें मुख्य अन्तर आदर्श और यथार्थ, संस्कृति और विकृतिका हो गया है। नये साहित्यमें फ्रायडका यौन-विज्ञान, मार्क्सका समाज-विज्ञान और मानवतावादी लेखकोंका रूढ़ि और मत-विशेषसे मुक्त स्वतन्त्र मनोविज्ञान है।

फ्रायड और मार्क्सके पहिले मानवतावादी लेखकोंने ही अपने सामाजिक निरूपण और चरित्र-चित्रणसे साहित्यको नवीनता दी थी। रूसमें ताल्सताबायने और आधुनिक भारतीय साहित्यमें रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, प्रेमचन्द, प्रसाद ('कङ्काल') ने मानवतावादका प्रतिनिधित्व किया। इनमें यथार्थकी जड़ता नहीं, आदर्शकी चेतना थी। जागरूक रहकर ही इन्होंने यथार्थको भी देखा और दिखाया। स्वस्थ निर्माणके लिए साहित्यके सौभाग्यसे अब भी इस परम्पराके लेखक शेष हैं।

मानवतावाद संस्कृतिके भीतरसे साहित्यमें आया था, अतएव, उसमें हार्दिक सरसता थी। मार्क्सवाद राजनीतिके भीतरसे साहित्यमें आया, अतएव उसमें बौद्धिक शुष्कता है। प्रचार-प्रधान हो जानेके कारण उसमें रस-सञ्चार नहीं हो सका। जिन मार्क्सवादी लेखकोंने रसात्मक

साहित्यका भी संस्कार ग्रहण किया उनकी रचना कोरी प्रचारात्मक न होकर कलात्मक हो गयी। यशपालकी 'दिव्या' इसका दिव्य दृष्टान्त है।

मार्क्स, फ्रायड और मानवतावादके प्रतिनिधियोंके अतिरिक्त, नयी पीढ़ीमें निरपेक्ष लेखक भी हैं। यद्यपि तटस्थ होकर वे लोकजीवनका चित्रण करते हैं, तथापि अपने युगसे संभुक्त होनेके कारण चित्रणमें उनकी अपनी रुचि और दृष्टि भी अन्तर्निहित रहती है; इसके बिना तो रचना सजीव नहीं हो सकती। किसी 'वाद'का प्रचार वे नहीं करते, किन्तु उनकी रुचि और दृष्टिमें मार्क्स और फ्रायडका यत्किञ्चित् प्रभाव हो सकता है। ऐसे भी लेखक हैं जिनमें केवल आत्मसहज संवेदन और स्वाभाविक सहानुभूति है। उनमें विशुद्ध कलाकारिता है।

मार्क्सवादी और फ्रायडियन दृष्टिकोणमें अर्थ और कामका आधुनिक रूपान्तर है। क्या अतीतका साहित्य और साहित्यकार अर्थ और कामसे अनभिज्ञ था? ऐसा कैसे कहा जा सकता है जब कि हमारे यहाँ चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें अर्थ और काम भी परिगणित था। यहाँ तक कि अर्थको प्रथम स्थान देकर उसे शेष पुरुषार्थका आधारस्तम्भ निर्दिष्ट कर दिया गया था। अर्थ और कामका प्रतीक था शरीर। कलागुरु कालिदास-ने कहा है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

चार पुरुषार्थोंमें धर्म और मोक्ष तो छूटता जा रहा है, अर्थ और कामका प्राधान्य होता जा रहा है। फ्रायडने कामके साथ मनकी प्रवृत्तियों-को जोड़कर चेतन-उपचेतन-अवचेतनके रूपमें अपना विचित्र मनोविज्ञान दे दिया। इसमें भला क्या नवीनता है! अपने यहाँ तो बहुत पहिले ही मनको चञ्चल कहा गया है। चञ्चलतासे मनकी न जाने कितनी स्थितियाँ हो ही सकती हैं, किन्तु उनमें चेतना नहीं, इन्द्रियोंकी अस्थिरता होती है। अध्यात्मज्ञान इस बचकाने मनोविज्ञानसे ऊपर उठकर आत्मस्थ अथवा स्थितप्रज्ञ होनेका सङ्केत करता है।

फ्रायडियन दृष्टिसे मनुष्यकी विकृतियाँ दिखलानेमें भला क्या विशे-

पता है ! मनुष्य भी मूलतः पशु तो है ही। यह पशु-मानव अपने रक्त-मास और मल-मूत्रके शरीरमें भी कितना स्वस्थ हो सकता है, इसी सौन्दर्य-दर्शनमें कलाका वैशिष्ट्य है। कलाका दृष्टिकोण रचनात्मक है।

शरीरकी विकृतियोंको ही देखना या तो शूकर-दृष्टि है या शूद्र-दृष्टि है। हमारे यहाँ शारीरिक जुगुप्साको जगाना अशोभन और अशिष्टता माना गया है। स्वास्थ्यके लिए शरीरकी विकृतियोंका भी निदान और उपचार किया गया है, किन्तु उसे आयुर्वेदके अन्तर्गत रखा गया है, साहित्यके अन्तर्गत नहीं। स्वास्थ्य, सौन्दर्य, संस्कृति, आदर्शका अभिप्राय यह है कि मनुष्य शरीरके दैनिक कृत्योंसे निवृत्त होकर—यथार्थकी प्रक्रियाओंको पारकर, मानसिक उत्कर्ष लेकर कलाके क्षेत्रमें उपस्थित हुआ है। वह सदेह है, वह सगुण है; केवल देह और उसकी प्रवृत्तियों-से आबद्ध नहीं, अपितु देहातीत सचेतन प्राणी भी है।

मैं यह नहीं कहता कि साहित्य अध्यात्म और नीतिका प्रचारक हो जाय, यह भी उतना ही अनुपयुक्त है जितना राजनीतिक और आर्थिक प्रचारक होना। साहित्यको एकाङ्गी अथवा एकपक्षी नहीं होना चाहिए। मनुष्यमें पशुत्वसे लेकर ईश्वरत्व तककी सम्भावनाएं हैं। कला 'सु'-'कु' दोनोंको चित्रित कर सकती है, किन्तु केवल पशुत्वका प्रदर्शन करना शुभ-चिन्तना नहीं है।

वास्तविकता यह है कि सम्प्रति जैसे अर्थ और काम स्वार्थ-सङ्कीर्ण हो गया है, वैसे ही धर्म और मोक्ष भी। एक ओर यदि यथार्थ नंगा हो गया है, तो दूसरी ओर आदर्श ढोंग-धतूरा हो गया है। हमें इन दोनोंसे तटस्थ होकर आत्मनिरीक्षणकी प्रेरणा जगानी चाहिए।

इस समय विश्व-साहित्यमें जो तीन धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं, वे बाहरी धरातलपर हैं, उनमें संस्कृतिकी अन्तःस्रोतस्विनी सरस्वती नहीं है। अब चौथी धारा सांस्कृतिक धाराके रूपमें प्रत्यक्ष हो रही है। छाया-वादमें यह अन्तर्मुखी थी, सर्वोदयमें लोकोन्मुखी हो रही है। भाव-क्षेत्रसे

कर्म-क्षेत्रमें आ गयी है। कविने कभी कामना की थी—'मानव-संस्कृति में विरोध सब डूबें, हो ऐक्य प्रकाश।'—सर्वोदय यदि अपने सत्प्रयत्नमें सफल हो गया तो उसीके प्रकाशसे आजके तामसिक विरोध तिरोहित हो जायँगे।

कहा जाता है कि "गत दो महायुद्धों (सन् १९१४–१९१७ और सन् १९३८–१९४५) के कारण सारी दुनियामें नैतिक मूल्य गिर गये हैं। शाश्वत मूल्योंपर जो श्रद्धा थी वह खत्म हो गयी है।"

युद्ध तो पहिले भी होते थे, किन्तु उनसे नैतिक मूल्योंका ह्रास आज-जैसा क्यों नहीं हो गया? कहा जा सकता है कि अतीतकी राजनीतिमें नैतिक आस्था (संस्कृति) थी, किन्तु आजकी राजनीतिमें आस्था नहीं, लोलुपता है।

प्रश्न यह उठता है कि पहिलेकी राजनीतिमें आस्था क्यों थी और आज की राजनीतिमें अनास्था क्यों है? इसका उत्तर दोनों युगोंकी औद्योगिक प्रणालीसे मिलेगा। पहिलेका उद्योग जीवन्त अथवा ग्रामीण था, आजका उद्योग निर्जीव अथवा यान्त्रिक है। उद्योगोंके अनुसार ही मनुष्य जड़ और चेतन बनता है। विज्ञानने औद्योगिक प्रणालीमें भी परिवर्तन कर दिया है और मानसिक धारणाओंमें भी परिवर्तन कर दिया है। आज मनुष्य असा-माजिक और भावना-शून्य जड़ यन्त्र है।

यदि युद्ध न भी होता तो भी औद्योगिक क्रान्तिके कारण नैतिक मूल्योंका ह्रास हो जाता, युद्धोंसे ह्रास क्षिप्र हो गया।

१९वीं सदीमें जब औद्योगिक क्रान्तिका आरम्भ हुआ तभीसे जीवन इतना नीरस और अस्त-व्यस्त हो गया कि सौन्दर्य, संस्कृति और कलाके लिए अवकाश नहीं रह गया। सब कुछ एक कृत्रिम आर्थिक दृष्टिकोणसे देखा जाने लगा। अर्थकी तरह धर्म भी व्यवसाय बन गया। एक ओर मनुष्य कोरा काम-काजी हो गया, दूसरी ओर धर्म कर्मकाण्ड मात्र रह गया। अर्थका रूपान्तर हो जानेसे उसीकी तरह धर्मका मर्म भी लुप्त हो

गया, वह रूढ़ि मात्र रह गया। मध्ययुगमें भी धर्मका दुरुपयोग होने लगा था, क्योंकि उस युगमें साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पूँजीवाद (भी) था। वह सर्वोदयका युग नहीं था।

मध्ययुगमें भक्त कवियोंने धार्मिक और सामाजिक विकृतियोंका विरोध किया था। १९वीं सदीमें कलाकारोंने यान्त्रिक जीवनका बहिष्कार किया। स्थूल उपयोगितावादी युगको अस्वीकार कर संस्कृति और कलाके प्राण-प्रतिष्ठाताओंने सूक्ष्म चेतना जगायी। कलाकारोंने आवाज़ उठायी—कला: कलाके लिए! आलोचना-जैसे शुष्क विषयमें भी कलाका सञ्चार हुआ।

छायावाद-युग तक कलाका प्राणवन्त प्रस्फुटन हुआ, क्योंकि औद्योगिक क्रान्तिके पहिलेका आर्थिक, सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण बना हुआ था। इसके बाद वैज्ञानिक उद्योगोंसे जीवन और साहित्यमें गत्यवरोध आ गया, हार्दिक विकास रुक गया। आज सभी देशोंके सामने औद्योगिक समस्याएँ आ उपस्थित हुई हैं। जिन देशोंने वैज्ञानिक प्रगतिको स्वीकार कर लिया, उनके सामने समस्याएँ अधिक पेंचीदी नहीं हैं, क्योंकि वे अपनी राजनीति और अर्थनीतिको युद्धकी धमकियोंसे अग्रसर करना चाहते हैं। समस्याएँ उनके सामने जटिल हैं जो इस जड़ युगके पूर्वकी सचेतन संस्कृतिको लेकर उज्जीवित होना चाहते हैं। उनकी कठिनाई इसलिए दुहरी है कि एक ओर उन्हें वर्तमान वातावरणका परिहार करना है, दूसरी ओर अपने रचनात्मक कार्योंका बीजारोपण और विकास करना है। वातावरणको बदले बिना रचनात्मक कार्योंके लिए धरातल नहीं प्रस्तुत हो सकता। गान्धीजी स्वतन्त्रताके आन्दोलनके द्वारा यही दुहरा प्रयत्न कर रहे थे। अब स्वराज्यके बादकी परिस्थितियोंमें सर्वोदयके सामने भी यही दुहरा कर्तव्य है। यदि सर्वोदय कृतकार्य हो सका तो साहित्य, संस्कृति, कलाका नवोत्थान होगा; अन्यथा, नयी पीढ़ी : नया साहित्य वैज्ञानिक युगका कृत्रिम प्रतिनिधित्व करेगा, जैसे कि आज यथार्थवादके नामपर कर रहा है। क्या उसमें जीवनी-शक्ति है।

दूसरे महायुद्धके बाद यद्यपि नैतिक मूल्योंका ह्रास हो गया तथापि अभी प्रकृति सर्वथा विकृत नहीं हो गयी है; अतएव, सांस्कृतिक चेतना शेष है। परमाणु और उदाणु बमके परीक्षणोंसे वायुमण्डल विषाक्त हो गया है, जैसे औद्योगिक क्रान्तिसे पृथ्वीका सहज जीवन; किन्तु धरती अभी जलकर राख नहीं हो गयी है, मनुष्य उसकी मिट्टीके सोंधेपनसे स्वस्थ साँस लेनेका प्रयत्न कर रहा है।

युद्धोत्तरकालीन समूची नयी पीढ़ी अभी यथार्थसे शुष्क और कटु नहीं हो गयी है। जापान-जैसे अग्नि-गर्भ और बम-परीक्षणसे आक्रान्त देशकी नयी पीढ़ी सुकोमल संवेदना, सूक्ष्म मनोविज्ञान और रेशमी शिल्प लेकर साहित्यमें उदित हो रही है। इसका एक कारण तो वहाँका स्वभाव-गत सौन्दर्य और कला-संस्कार है; दूसरा कारण इस कदर्थ युगके प्रति अविश्वास और अपनी सृष्टिके प्रति विश्वास (आत्मविश्वास) है। इङ्गलैण्डकी नयी पीढ़ीमें भी ऐसे नये लेखक आ गये हैं जो रोमांस और रोमाण्टिसिज्म दे रहे हैं। एक लेखक तो केवल सोलह-सत्रह सालका है, इसी उम्रमें वह प्रसिद्ध और लोकप्रिय हो गया है। सभी देशोंमें साहित्य की नयी किशोर पीढ़ीका प्रादुर्भाव हो रहा है जिसके सारल्य और सौकुमार्य-से यह रूक्ष- परुष युग सुस्निग्ध हो जायगा।

परिस्थितियोंने वयका व्यतिक्रम कर साहित्यकी नयी पीढ़ीको अकाल-परिपक्व अथवा प्रौढ़ों-जैसा भी अनुभूति-प्रवण बना दिया है। इसका प्रमाण हिन्दीकी नयी कवितामें मिलेगा। नयी कवितामें जो युग-चेतना और अन्तश्चेतना (यथार्थ और कल्पना) चल रही है वही कहानी, उपन्यास, नाटक और साहित्यकी अन्यान्य भूमियोंमें भी। अनुभूतिकी तरह अभिव्यक्तिमें भी तारुण्य है, उसमें नयी इन्द्रियोंकी कला-भङ्गिमा है। अपनी-अपनी रागात्मक प्रवृत्तियोंसे नये लेखकों और कवियोंने अनेक नये टेकनिक दे दिये हैं। इस पीढ़ीके आलोचकोंमें भी एक वयोचित

सजीवता है। नये कवि, लेखक और आलोचक आपसमें तू-तू-मैं-मैं भी करने लगते हैं, जैसे किसी खेलके मैदानके खिलाड़ी।

नयी पीढ़ी मुख्यतः कविता, कहानी, उपन्यास और एकाङ्की नाटक लिख रही है। यात्रा, संस्मरण, डायरी, शब्दचित्र और निबन्धमें भी इन्हीं साहित्यिक विधाओंसे नवीनता आ गयी है।

सम्प्रति नयी कविताकी तरह नये कथा-साहित्यकी चर्चा अधिक हो रही है। हिन्दीके आधुनिक कथा-साहित्यकी गति-विधि अश्कजीने थोड़ेमें यों सुस्पष्ट कर दी है—

"कहानी प्रेमचन्दजीके समय शरीरको नहीं देखती थी, उसके बाहर कल्पना दौड़ाकर आदर्शके चित्र उतारती थी; फिर प्रगतिवादके आरम्भिक कालमें वह यथार्थके खाके उतारकर शरीरको देखने लगी। फिर वह शरीरके अन्दर झाँक, मनका चित्रण करने लगी; और अब मानव-मनके बारेमें कल्पना दौड़ाकर कुछ ऐसे चित्र भी उतारती है जो उसी तरह अयथार्थ और काल्पनिक हे जैसे आदर्शवादी युगके आदर्श चित्र। और इस विकास-क्रममें कहानीकी कई शैलियाँ और रूप बन गये हैं।"—यही गति-विधि उपन्यासों और नाटकोंकी भी है।

इस समय कथा-साहित्य दो क्षेत्रों (गाँव और नगर) में विभाजित हो गया है। ग्रामीण कथा-साहित्यमें प्रेमचन्दजीकी परम्पराका विकास हो रहा है, नागरिक कथा-साहित्यमें विदेशी लेखकोंका अनुकरण किया जा रहा है। प्रकाशचन्द्र गुप्त कहते हैं—"प्रेमचन्दकी कलाकी शक्ति उनके व्यापक जीवन-दर्शन, उनकी महान् संवेदनाओंसे सम्बन्धित थी। आजका कलाकार बहुधा अपने तक सीमित रहता है। उसकी संवेदनाएँ प्रेरणाके अखण्ड स्रोत नहीं खोल पातीं।....कभी-कभी हमें लगता है कि किसी विदेशी लेखककी रचनाएँ पढ़ते हैं।"

भारतीय नगरोंपर पश्चिमके औद्योगिक नगरोंका प्रभाव अवश्य पड़ा है और औद्योगिकीकरणके कारण भारत भी पश्चिम होता जा रहा है,

अतएव नये नागरिक कथा-साहित्यमें विदेशी सादृश्य मिल जाना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु एक ही वातावरणमें जैसे व्यक्तियोंकी अपनी-अपनी साँसें बहती हैं, वैसे ही देशोंकी भी। साहित्यमें उन साँसोंका अपना स्पन्दन होना चाहिए। हम जिस धरतीपर खड़े हैं उस धरतीका स्पर्श मिलना चाहिए। क्लब और रेस्टुरेण्टमें बैठकर चाय और कॉफीकी चुस्की लेते हुए, सिगरेटके धुएँ उड़ाते हुए हम विदेशी कलाकार नहीं बन सकते; वैसे सिनेमाके अभिनेता पश्चिमके स्टार बननेका स्वांग करते ही हैं। क्लब, रेस्टुरेण्ट और ड्राइंग रूममें गप-शप, वाद-विवाद और मनोरञ्जन किया जा सकता है, स्वस्थ चिन्तन नहीं।

कहा जाता है, नये कथा-साहित्यमें वैयक्तिकता अधिक है। यदि उसमें चिन्तनकी गहराई हो तो उसके द्वारा भी लोकानुभूति हो सकती है। चिन्तनके अभावमें वैयक्तिकता लेखकोंकी अपनी कुण्ठा और सीमा-बद्धता बन कर रह जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह भी चरित्रका एक पहलू है और कलाकी दृष्टिसे निर्दोष है, किन्तु सामाजिक दृष्टिसे अहितकर है।

यह आक्षेप किया जाता है कि "आज हम वैयक्तिक स्वभावोंकी तो चर्चा करते हैं, किन्तु मानव-मानसके अन्तर्वैयक्तिक स्वभावोंकी चर्चा करने की जगह मौन हो जाते हैं।" इसका कारण सामाजिकताका अभाव है। जो कुण्ठा और अहम्मन्यता वैयक्तिकताको भी ठीकसे नहीं ग्रहण कर सकती, वह अन्तर्वैयक्तिकता तक कैसे पहुँच सकती है! या तो अपने ही मनोविकारोंका प्रसार करेगी, या पाश्चात्य कथा-साहित्यको 'एडेप्ट' करेगी।

मेरे उक्त कथनका अपवाद भी हो सकता है। आधुनिक नागरिक कथा-साहित्यकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं—शैलीकी नवीनता तथा चरित्र-चित्रण और वातावरणकी विचित्रता। वातावरणपर विशेष ध्यान दिया जा रहा है, जैसे 'बन्द दरवाज़े, खुली खिड़कियाँ'। यद्यपि नगरोंकी छाया

गाँवोंपर भी पड़ने लगी है, तथापि वहाँका राग-द्वेष अब भी बहुत सीधा-सादा है। वहाँके जीवनके अनुरूप शैली और वातावरणमें भी सरलता है, प्रेमचन्दके बाद कुछ अन्तरवार्द्धक्य और तारुण्य (पुरानी और नयी पीढ़ी) का पड़ गया है।

नागरिक और ग्रामीण कथाओंके ढाँचेमें भी अन्तर पड़ गया है। वातावरण-प्रधान हो जानेके कारण नागरिक कथाएँ प्रायः छायाचित्र बन गयी हैं, ग्रामीण कथाएँ घटना-प्रधान होनेके कारण अब भी कहानी बनी हुई हैं। वे 'गल्प'के विकास हैं।

इस समय ग्रामीण अञ्चलसे हिन्दीमें कई नवयुवक कथाकार आ गये हैं, नागरिक कथाकारोंकी अपेक्षा इनमें अधिक सजीवता और मार्मिकता है। शिवप्रसादसिंहकी कहानियाँ निश्चित रूपसे प्रेमचन्दजीकी शैली और स्वाभाविकताका नव-प्रबुद्ध प्रतिनिधित्व करती हैं। उनमें शुष्कता नहीं, रसात्मकता और भावव्यञ्जकता भी है। उनके चित्र बड़े सूक्ष्म और सजीव होते हैं। यों तो गाँव और नगर, सर्वत्र सामाजिक शक्तिका अभाव हो गया है, तथापि कठिनाइयोंमें भी उनके कतिपय पात्र-पात्रियाँ निःशक्त नहीं हैं, एकाकीपनमें शून्य और आत्मरिक्त नहीं हैं, अपनी आस्था और अन्तःप्रेरणासे सशक्त और जीवन्त हैं। छायावादकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ठेठ जीवनमें भी कितना प्राणान्वित है!

शिवप्रसादकी पात्र-पात्रियाँ विवश और त्रस्त भी हैं। जमींदारी तो चली गयी, किन्तु पूँजीवाद, भ्रष्टाचार और अत्याचार अभी बना हुआ है। एक दिन इस वातावरणका भी अन्त होगा, क्योंकि स्वतन्त्रताने पीड़ितोंको सजग कर दिया है। युग बदलेगा, युगान्तर होगा, किन्तु वैयक्तिकताका लोप नहीं हो जायगा; मनुष्यकी समस्याएँ उसकी मानसिक उलझनोंमें बनी रहेंगी, अन्तमें अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ही उसका सम्बल बनेगी।

इधर नागरिक कथा-साहित्यकी कृत्रिमता ग्रामीण अञ्चलकी कथाओंमें भी आने लगी है। ग्रामीण चित्रपटमें बहुत कलात्मक वैचित्र्य दुरूह हो

जाता है। शैलीगत विचित्रता और वैज्ञानिक जटिलता आ जानेके कारण 'रेणु' की 'परती : परिकथा' प्रायः अस्वाभाविक और बेमेल हो गयी है।

हम भूल न जायँ कि गाँवोंकी जनता दन्तकथाओं और किंवदन्तियों की स्वभावसहज जनता है। विचार-धारा चाहे जो हो, किन्तु मनोविज्ञान और वातावरण उस जनताके अनुरूप हो। इस दृष्टिसे बलभद्र ठाकुरका 'आदित्यनाथ' प्रगतिशील विचारधाराका अत्यन्त सफल उपन्यास है।

साहित्यकारोंका ही नहीं, अकालके कारण राजनीतिक नेताओंका भी ध्यान गावोंकी ओर गया है। हमारा कोई भी प्रयास केवल नवीनता और अवसरवादिताके लिए नहीं होना चाहिए। कालकी अनन्तता और सृष्टिकी अखण्डताके प्रति हम अपने स्थायी दायित्वका भी ध्यान रखें, यही मनुष्यत्व है।

काशी,
१ जुलाई, १९५९

नाटक और रङ्गमञ्च

नाटक : जीवनका कलात्मक सङ्कलन है; रङ्गमञ्च : संसारका संक्षिप्त क्रीड़ा-क्षेत्र । अपनी दैनिक कार्यव्यस्ततामें मनुष्य तटस्थ नहीं रह पाता, आत्मनिरीक्षणके लिए अवकाश नहीं निकाल पाता। नाटक और रङ्गमञ्चसे उसे तटस्थ निरीक्षणका सुअवसर मिलता है। ऐसा सुअवसर एकान्त-चिन्तन और स्वाध्यायसे भी मिल सकता है, किन्तु वह सामाजिक नहीं, वैयक्तिक रह जाता है । उस स्थितिमें भी मस्तिष्क वैसे ही भाराक्रान्त रहता है जैसे कार्यव्यस्त क्षणोंमें। जीवन केवल कोई ऐसा निजी कारोबार नहीं है जिसका अपना बहीखाता सबसे अलग रखा जा सके। नाटक और रङ्गमञ्च मनुष्यको सबसे मिलाता है, समाजसे समवेत करता है, ऐसा सामूहिक एकान्त प्रदान करता है जिससे संसारमें रहते हुए भी मनुष्य संसारमें नहीं रहता। वीतराग योगियोंकी तटस्थता उसे अपने अनुरागमें ही मिल जाती है। इस लोकोन्मुख अलौकिक समाधि में आत्मनिरीक्षणका भी अवसर मिलता है और सामाजिक निरीक्षणका भी। सबके मस्तिष्ककी भाराक्रान्तता संवाससे हलकी हो जाती है। फिर भी जिसकी भाराक्रान्तता हलकी नहीं हो पाती, वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे असाधारण पात्र है, उसका अवसाद-विषाद विशेष समस्यामूलक नाटककी अपेक्षा रखता है।

जीवनके सरस सङ्गमके लिए नाटक और रङ्गमञ्चकी आवश्यकता सदैव बनी रहेगी।

नाटकको दृश्य-काव्य कहा गया है। श्रव्य काव्यके रहते दृश्य-काव्यकी आवश्यकता क्यों आ पड़ी ? सबकी संवेदनशीलता इतनी सजग नहीं होती कि वे दृष्टिका व्यापार भी श्रुतिसे ग्रहण कर सकें, अतएव, काव्यको द्रष्टव्य

भी होना पड़ा। अब तो श्रुतिके द्वारा संवेदना जगानेके लिए ध्वनिनाट्य भी लिखा जाने लगा है, इससे दृश्यकी कल्पना करनेके लिए दर्शकको भी किसी अंश तक नाटककार बननेका अवसर मिलता है।

चाहे संवेदना हो, चाहे कल्पना; चाहे दृष्टि हो, चाहे श्रुति अथवा कोई अन्य आङ्गिक क्रिया, इन सभी साधनोंसे मनुष्यका मर्मोद्रेक, रसोद्रेक, रागोद्रेक किया जाता है। यह काम क्या सिनेमासे नहीं किया जा सकता? रेडियो और सिनेमा श्रव्य और दृश्यकाव्यको सर्वसुलभ कर रहे हैं, तो फिर नाटक और रङ्गमञ्चका अभाव क्यों खटकने लगा है? सुप्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूरका कहना है कि सिनेमाका दायरा इतना तंग है कि नाटकके दृश्य अपनी पूरी खूबीसे नहीं दिखाये जा सकते।

इस वैज्ञानिक युगमें जब कि कोई भी बाहरी सुविधा दुर्लभ नहीं है तब सिनेमाका दायरा तंग कैसे बना रह सकता है! कुछ लोग (जिनमें प्रसादजी और पन्तजी भी हैं) नाटकको वैज्ञानिक सुविधाओंसे लाभ उठानेका परामर्श देते हैं। इसी तरह क्या सिनेमा नाटकसे लाभ उठा सकता है? नाटक और विज्ञान, सिनेमा और नाटकका मेल हैण्डलूम-जैसा हो जायगा। उससे शिल्पकी स्वाभाविक मौलिकता (मानवीय सजीवता) चली जायगी।

नाटक और रङ्गमञ्चका उद्भव और विकास एक ऐसे युग, ऐसे समाजमें हुआ था जब साधन और साध्यमें अन्योन्यता थी। अब हम एक ऐसे युगमें आ गये हैं जब साधन और साध्य बदल गये हैं, तब नाटक और रङ्गमञ्चको पुनः प्रतिष्ठित करनेके लिए प्रयत्नशील क्यों हैं? वास्तविकता यह है कि इस वैज्ञानिक युगके साधन और साध्यसे हमें सरसता नहीं मिल रही है, तृप्ति नहीं मिल रही है, सब कुछ जैसे निर्जीव छलावा जान पड़ने लगा है। जिनकी चेतना सर्वथा कुण्ठित नहीं हो गयी है वे अतीतकी ओर प्रत्यावर्त्तन कर रहे हैं। यही प्रत्यावर्त्तन गान्धीजीने

ग्रामोद्योगों-द्वारा किया था। समाजको जीवन्त बनानेके लिए वे जीवनको यन्त्र-मुक्त करना चाहते थे।

इस वैज्ञानिक युगमें साहित्य भी यान्त्रिक हो गया है। नाटकोंके यन्त्रीकरण (फिल्म) से मुक्ति देनेके लिए रङ्गमञ्चका माध्यम अपनाया जा रहा है। कहा जाता है कि 'कलात्मक प्रवृत्ति स्वच्छन्दता और नैसर्गिक प्रतिभाकी माँग करती है।'

इस दृष्टिसे साहित्य, संस्कृति और कलाकी मुक्तिके लिए सिनेमासे ही नहीं, रेडियोसे भी छुटकारा लेना चाहिए। क्या यह सम्भव है ? यदि यह सम्भव नहीं है तो सिनेमाके इस जमानेमें नाटक और रङ्गमञ्चको प्रतिष्ठापित करनेका दुष्प्रयास क्यों किया जा रहा है !

इंग्लैण्डमें चार्ली चैपलिनने अपने मूक अभिनय-द्वारा, बोलते हुए सिनेमाका बहिष्कार किया था। जो अपने मूक अभिनयमें जीवनका मर्मस्पर्शी कलाकार है, जिसके हास्यमें आधुनिक युगका विद्रूप है, उसके लिए क्या बोलता, क्या अनबोलता, कोई भी सिनेमा बवाल है। असलमें वह रङ्गमञ्चका अभिनेता है, मूक अभिनय द्वारा उसने किसी हदतक सिनेमासे जेहाद किया था। गान्धीजीकी तरह ही वह भी मशीनोंके ख़िलाफ़ है, अपने एक फ़िल्ममें उसने मशीनोंका मज़ाक़ उड़ाया था।

जो कभी सिनेमाके परदेपर मूक दर्शन दे देता था, वह इधर वर्षोंसे मूक ही नहीं, सिनेमासे अदृश्य भी हो गया है। अदृश्य होकर भी जमानेसे बेख़बर नहीं है। कुछ समय पहिले समाचार मिला था कि वह अपना नया फ़िल्म ('चार्ली चन्द्रलोकमें') बना रहा है। जैसे उसने कभी मशीनों और डिक्टेटरोंका मज़ाक़ उड़ाया था, वैसे ही आगामी फ़िल्ममें निश्चय वह वैज्ञानिकों और विस्तारवादियोंका भी मज़ाक़ उड़ायेगा।

सम्प्रति सभी देशोंमें यन्त्र-युगसे उपराम होता जा रहा है। इंग्लैण्ड तो रूढ़िवादी है, अतएव अतीतके अनुराग-वश वह शेक्सपियरके नाटकोंको रङ्गमञ्चपर सजीव कर रहा है। किन्तु प्रगतिशील रूस क्या अतीतसे

विमुख है ? वह भी तो अपने यहाँकी पुरानी लोककलाओंका रङ्गमञ्चपर प्रदर्शन कर रहा है। अभी हालमें यहाँ, वहाँकी कठपुतलियोंका नृत्य दिखलाया गया था। प्राचीनताका यह प्रदर्शन लोककलाओंका संरक्षण-मात्र है अथवा इसका कोई मनोवैज्ञानिक कारण भी है—आधुनिक कृत्रिम वातावरणसे ऊबी हुई मानवता द्वारा स्वाभाविक साँस लेनेका प्रयास !

साहित्यिक स्तरपर हिन्दीमें नाटक और रङ्गमञ्चका आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने किया था। देशके तत्कालीन पराधीन वातावरणमें उन्होंने जैसे राष्ट्रीय चेतना जगानेका प्रयत्न किया था वैसे ही नाटक और रङ्गमञ्चमें भारतीय स्वाभाविकताका सञ्चार करनेका प्रयत्न भी किया था, यही कारण है कि उनके नाटकोंमें कथानक और शैली बहुत कुछ पुराने ढंगकी है। अपनी कलात्मकताके कारण उनके नाटक शिक्षितोंके लिए भी आकर्षक हैं और सरलताके कारण सर्वसाधारणके लिए भी।

भारतेन्दुके बाद भी स्थानीय परिधिमें साहित्यप्रेमियों-द्वारा नाटक खेले जाते थे, किन्तु उसमें जन-साधारणका सहयोग नहीं था, वह धार्मिक लीलाओं (रामलीला-रासलीला) और लोकनाट्यों (नौटंकी और कठपुतलियों) में ही रस लेता रहा। इस सामान्य कलात्मक प्रवृत्तिमें भी उसकी भारतीय स्वाभाविकता बनी हुई थी।

पश्चिमके प्रभावसे जैसे हमारे जीवनमें व्यावसायिक प्रवृत्तिका प्रसार हुआ वैसे ही नाटक और रङ्गमञ्चमें भी। साहित्यिक और स्वाभाविक स्तर छोड़कर पारसी थियेट्रिकल कम्पनियोंने अपना रंग जमा लिया। उनसे जनताका मनोरञ्जन हुआ, किन्तु अन्तःप्रस्फुटन नहीं हुआ। उन थियेट्रिकल कम्पनियोंके बाजारूपनसे असन्तुष्ट होकर कतिपय नाटककारोंने नाटक और रङ्गमञ्चको साहित्यिक स्तरपर लानेका प्रयत्न किया। इस दिशामें व्याकुल भारत थियेट्रिकल कम्पनीका नाम उल्लेखनीय है, 'वरमाला'के लेखक गोविन्दवल्लभ पन्त भी उसके एक अभिनेता थे।

किन्तु वह स्वतन्त्र नाटकीय प्रयास व्यावसायिक स्तरपर सफल नहीं हो सका ।

एक ओर जब पारसी थियेट्रिकल कम्पनियोंका बोलबाला था, दूसरी ओर साहित्यिक रङ्गमञ्चका उदय हो रहा था, तब प्रसादजी उच्चकोटिके सांस्कृतिक ऐतिहासिक नाटक लिख रहे थे। भारतेन्दुकी तरह ही प्राचीन परम्परासे प्रेरित होते हुए भी वे भारतीय नाट्यकलाको नवीन गम्भीर रूप दे रहे थे। किन्तु जिस युगमें अपेक्षाकृत सुगम होते हुए भी व्याकुल भारत कम्पनीके नाटक व्यावसायिक दृष्टिसे सफल नहीं हो रहे थे, उस युगमें प्रसादके नाटक रङ्गमञ्चपर कैसे सफल हो सकते थे! आज भी उनके नाटक दृश्यकाव्यकी अपेक्षा पाठ्य काव्य ही समझे जाते हैं ।

प्रसादके सामने भी पारसी थियेट्रिकल कम्पनियोंकी हल्की रुचिके कारण कई नाटकीय समस्याएँ आ उपस्थित हुई। उन्होंने रङ्गमञ्चकी दृष्टिसे नाटकोंपर विचार किया और सुझाव दिया ।

प्रसादजी रङ्गमञ्चको नाटकका अनुवर्ती मानते थे, नाटकको रङ्गमञ्चका अनुवर्ती नहीं। उन्होंने कहा है—"इतिहाससे यह प्रकट होता है कि काव्योंके अनुसार प्राचीन रङ्गमञ्च विकसित हुए और रङ्गमञ्चोंकी नियमानुकूलता माननेके लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात्, रङ्गमञ्चोंको ही काव्यके अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक कालमें माना जायगा कि काव्योंके अथवा नाटकोंके लिए ही रङ्गमञ्च होते हैं। काव्योंकी सुविधा जुटाना रङ्गमञ्चका काम है, क्योंकि रसानुभूतिके अनन्त प्रकार नियमबद्ध उपायोंसे नहीं प्रदर्शित किये जा सकते और रङ्गमञ्चने सुविधानुसार काव्योंके अनुकूल समय-समयपर अपना स्वरूप-परिवर्त्तन किया है।"

जिस नाटकको लिखनेमें नाटककारको न जाने कितना अध्ययन और कितनी साधना करनी पड़ी, उसे किसी भी रङ्गमञ्चपर कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसा चित्र वैसा फ्रेम होना चाहिए। नाटकके आयोजकों और

पस्तोताओंको भी तदनुकूल रङ्गमञ्चके लिए साधना करनेकी आवश्यकता है। प्राचीन पद्धतिके नाटकोंके लिए प्रसादजीने वैसा ही अध्यवसाय करनेके लिए कहा है जैसा शेक्सपियरके नाटकोंके लिए उन्नीसवीं सदीके मध्यमें 'कीन' ने किया था। इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रसादजी शेक्सपियरसे प्रभावित थे या अपने नाटकोंके लिए शेक्सपीरियन रङ्गमञ्च चाहते थे।

पारसी रङ्गमञ्च विक्टोरियन युगका अनुकरण था। उससे स्वतन्त्र बङ्गालमें शेक्सपीरियन रङ्गमञ्च और इब्सनके यथार्थवादका नाटकीय प्रयोग हो रहा था। प्रसादजी भारतीय दृष्टिसे इन दोनोंको अस्वाभाविक मानते थे। वे अपने नाटकीय रङ्गमञ्चका प्रतिमान दक्षिण भारतमें पाते थे। उन्होंने कहा है—"तीस बरस पहिले जब काशीमें पारसी रङ्गमञ्चकी प्रबलता थी, तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक-मण्डली-द्वारा संस्कृत मृच्छकटिकका अभिनय देखा था। उसकी भारतीय विशेषता अभी मुझे भूली नहीं है। कदाचित् उसका नाम 'ललित-कलादर्श-मण्डली' था।"

प्रसादजीकी दृष्टि दक्षिण भारत तक ही नहीं, प्राचीन संस्कृतिसे प्रभावित बृहत्तर भारत तक विस्तृत थी। उनका दृष्टि-विस्तार इस कथनसे सूचित होता है—"आन्ध्रने आचार्योंके द्वारा जिस धार्मिक संस्कृतिका पुनरावर्त्तन किया था, उसके परिणाममें संस्कृत-साहित्यका भी पुनरुद्धार और तत्सम्बन्धी साहित्य तथा कलाकी भी पुनरावृत्ति हुई थी। संस्कृतके नाटकोंका अभिनय भी उसीका फल था। दक्षिणमें ये सब कलाएँ सजीव थीं, उनका उपयोग भी हो रहा था। हाँ, बाली और जावा इत्यादिके मन्दिरोंमें इसी प्रकारके अभिनय अधिक सजीवतासे सुरक्षित थे।"—इन शब्दोंमें प्रसादजीकी आर्ष आत्मा और नाटकीय रुचि स्पष्ट हो जाती है।

प्रसादजीने अपने एक लेख ('रङ्गमञ्च') में न केवल रङ्गमञ्चसम्बन्धी दिग्दर्शन किया है, बल्कि नाटकोंकी भाषा, वातावरण और वेषभूषा इत्यादिके सम्बन्धमें भी विचार किया है। साथ ही पाश्चात्य अन्धअनुकरणका विरोध भी किया है। उन्होंने कहा है—"समयका दीर्घ अति-

क्रमण करके जैसा पश्चिमने नाट्यकलामें अपनी सब वस्तुओंको स्थान दिया है, वैसा क्रम-विकास कैसे किया जा सकता है यदि हम पश्चिमके आजको ही सब जगह खोजते रहेंगे ?····पश्चिमने भी अपना सब कुछ छोड़कर नयेको नहीं पाया है।"

प्रसादजी अभिनयको विशेष महत्त्व देते थे, उसीसे भाषा समझमें न आनेपर भी भाव सुगम हो जाता है। प्रसादजी कहते हैं—"क्या हम नहीं देखते कि विना भाषाके अबोल चित्रपटोंके अभिनयमें भाव सहज ही समझमें आते हैं और कथकलिके भावाभिनय भी शब्दोंकी व्याख्या ही हैं ? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दोंके समझानेका काम रङ्गमञ्चसे अच्छी तरह करता है।"

प्रसादजीने अभिनयको लोकधर्मी (सामान्य स्वाभाविक) और नाट्यधर्मी (असामान्य भाविक) कहा है। वे सांस्कृतिक दृष्टिसे नाट्यधर्मी अभिनयके पक्षमें थे। यह 'व्यञ्जना-प्रधान' है, इसीलिए भाषाका अतिक्रम कर भाव प्रादुर्भूत होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि चाहे लोकधर्मी हो चाहे नाट्यधर्मी, अभिनयके लिए कथानक भी तदनुकूल स्वाभाविक होना चाहिए। नाटककारका दोष अभिनेताके मस्तकपर नहीं थोपा जा सकता।

पारसी थियेट्रिकल कम्पनियोंके समयमें स्वतन्त्र रूपसे द्विजेन्द्रलाल रायके नाटक खेले जाते थे, क्योंकि उनके लिए रङ्गमञ्चकी विशेष कल्पना नहीं करनी पड़ती थी। यद्यपि रायके नाटक प्रसादजीके नाटकोंकी तरह गूढ़ गम्भीर नहीं हैं, तथापि व्यावसायिक नाटकोंकी अपेक्षा वे साहित्यिक स्तरके हैं। शिक्षित समाज जब धीरे-धीरे उच्चकोटिके नाटकोंकी ओर अग्रसर हो रहा था तब सिनेमाने आकर उसका गत्यवरोध कर दिया। जैसे यन्त्रोद्योगने दस्तकारीका स्थान ले लिया वैसे सिनेमाने नाटक और रङ्गमञ्चका स्थान ले लिया। प्रसादजीने खेदपूर्वक कहा है—"हिन्दीका कोई अपना रङ्गमञ्च नहीं है। जब उसके पनपनेका अवसर था तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्त्तमान सिनेमामें बोलनेवाले चित्रपटोंका अभ्युदय

हो गया, और फलतः अभिनयोंका रङ्गमञ्च नहीं-सा हो गया। साहित्यिक सुरुचिपर सिनेमाने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचिको नेतृत्व करनेका सम्पूर्ण अवसर मिल गगा है। उनपर भी पारसी स्टेजकी गहरी छाप है।''

अब सिनेमाका सुरुचिपूर्ण विकास भी हो रहा है, उच्चकोटिके साहित्यिक कथानक अभिनीत होने लगे हैं। फिर भी अधिकांश अच्छी रचनाएँ गद्दी हो जाती हैं। इसका कारण क्या है?

सिनेमाके युगमें यद्यपि नाटक और रङ्गमञ्च दुर्लभ हो गया, तथापि रवीन्द्रनाथ और उदयशङ्करकी कला-साधनासे रेगिस्तानमें ओएसिसकी तरह उसका दिव्य अस्तित्व बना रहा।

दोनोंके नाटक और अभिनय व्यञ्जना-प्रधान हैं। रवीन्द्रनाथने संक्षिप्त और सरल संलापसे, उदयशङ्करने लोकनृत्यसे जीवनकी निगूढ़ भावानुभूतियोंको सरस सुगम कर दिया। पता नहीं, इन महानुभावोंके नाटकीय प्रयत्नोंकी रङ्गमञ्चीय स्थिति अब क्या है! शायद शान्तिनिकेतन (अथवा बंगाल) में रवीन्द्रनाथकी नाट्य साधना अभी सजीव है, किन्तु उदयशङ्करकी साधना सम्प्रति अदृश्य है।

रङ्गमञ्चकी पुनः प्रतिष्ठाके इस युगमें प्रसादजीके नाटकोंके लिए भी अनुकूल क्षेत्र प्रस्तुत हो रहा है। जगदीशचन्द्र माथुर इस ओर प्रयत्नशील हैं। वे स्वयं भी रस-सिद्ध नाट्यप्रणेता और अभिनेता हैं। प्रसादजीकी सास्कृतिक प्रेरणासे प्रेरित 'कोणार्क' उनका सहज सफल रेडियो रूपक है। कुछ समय पहिले उनका एक मार्मिक एकाङ्की प्रकाशित हुआ था—'शारदीया।'—इतना सरल, इतना स्वाभाविक, इतना प्राभाविक एकाङ्की हिन्दीमें दूसरा दिखायी नहीं दिया। जगदीश माथुरसे भविष्य आशान्वित है।

चाहे सिनेमा हो, चाहे रङ्गमञ्च, उसे केवल तमाशा नहीं बने रहना चाहिए। कलाके द्वारा आकर्षितकर जनताको सुसंस्कृत बनानेका दायित्व उनपर है। जो जनता तमाशबीन हो गयी है उसे सुरुचिपूर्ण बनानेका

काम रङ्गमञ्च विशेप रूपसे कर सकता है। इसके लिए भावात्मक नाटक और नाट्यधर्मी अभिनयकी आवश्यकता है। उससे केवल मनोरञ्जन ही नहीं, जनताका अन्तःप्रस्फुटन भी होगा। उसका रागात्मक हृदय आत्म-मन्थन करने लगेगा। एक शब्दमें जनता भी वैसे ही कलाकार बन जायगी जैसे कभी अपनी लोककलाओंमें बन गयी थी।

अगर कलाकार महाकवि कालिदासको भी केवल मनोविनोद अभीष्ट नहीं था, कलाको वे इससे ऊँचा स्थान देते थे। 'मालविकाग्निमित्र'में उन्होंने भारतीय परम्पराका स्मरण दिलाया है—"मुनियोंने यह मत व्यक्त किया है कि 'नाट्यकला' केवल विनोदका साधन या कला नहीं है, यह ऐसा 'यज्ञ' है जो देवताओंको भी प्रिय है। स्वयं रुद्रने उमाके साथ संयुक्त होकर इसे अपने शरीरके दो भाग (ताण्डव और लास्य) में विभक्त कर दिया है। इस यज्ञमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण हैं। आनन्दरसोंमें लोक-जीवनका चरित्र दिखायी देता है। यही कारण है कि अलग-अलग रुचि और विचारके लोगोंके लिए नाटक ही एकमात्र ऐसा साधन है, ऐसा आनन्ददायी उत्सव है जहाँ एकमे सब कुछ मिल जाता है।"

""भावात्मक नाटक और नाट्यधर्मी अभिनय केवल फैन्टेसी नहीं है। यह तो कलाकी भी कला है, बहिरङ्ग कलाकी अन्तरङ्ग कला है, शकुन्तला-के 'अभिज्ञान'की तरह। यह लुप्त सरस्वती (चेतना) को जगाती है, मनुष्यको गहराईमें उतारती है।

इधर रङ्गमञ्चकी पुनः प्रतिष्ठापनाके लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं उनमें भावात्मक नाटक और नाट्यधर्मी अभिनयका भी समावेश किया जाने लगा है। पिछले जाड़ेमें श्रीनागरी नाटक मण्डली (काशी) की स्वर्ण जयन्तीके शुभ अवसरपर मुझे दो भावात्मक नाटक देखनेका सुयोग मिला था—(१) वे सपनोंके देशसे लौट आये हैं, (२) चाड़िया नूँ सपनूँ ('काग भगोड़ा' का स्वप्न)। ये दोनों 'गुजराती सङ्गीत नाटक'की

ओरसे खेले गये थे। जैसा ही स्वाभाविक इनका कथानक था वैसा ही इनका प्रसाधन और कथनोपकथन भी था।

पहिला नाटक बच्चोंका था। घरके अनुशासित वातावरणसे ऊबकर वे अपनी बाल-सुलभ कल्पनासे परियोंके देशमें पहुँच जाते हैं। वहाँ जब अपने खेलोंमें संसारको भूल जाते हैं तब उनके सामने विकट वास्तविकताके 'भूत' प्रकट हो जाते हैं। वे भयभीत होकर फिर अपने माता-पिताकी गोदमें लौट जाते हैं। कल्पनाका देश घरोंमें स्नेह और वात्सल्यका परिवार बन जाता है।

दूसरा नाटक भी भावात्मक होकर ऐसा ही स्वाभाविक था। 'चाड़िया' उस 'काग भगोड़ा' को कहते हैं जो रातमें खेतोंकी रखवाली करनेके लिए कल्पित मनुष्यके रूपमें खड़ा रहता है। साँझको ग्रामवधुएँ आकर उससे रात-भर रखवाली करनेको कहतीं और उसकी बलैयाँ लेती हैं।

एक दिन सन्ध्याके झुटपुटेमें एक छौना चाड़ियाको देख डरकर भाग गया तो वह अपने एकाकी जीवनसे दुखी होकर सङ्गीतमय जीवनका स्वप्न देखने लगा। सङ्गीतसे वह जड़ भी स्पन्दनशील और गतिशील हो उठा। किन्तु सबेरे मुर्गेके बाँग देते ही उसका स्वप्न टूट गया, 'चाड़िया' जहाँ-का-तहाँ जड़वत् रह गया।

—यह कितना सीधा-सादा, भावात्मक किन्तु स्वाभाविक प्रतीक है। इससे छायावादकी स्वप्निल चेतनाका मर्मोद्घाटन हो जाता है। छायावाद कवितामें ही नहीं, जनताके स्वभावमें भी है। यदि 'काग भगोड़ा' मनुष्यका व्यक्तित्व धारण कर सकता है तो जड़ प्रकृति कविका व्यक्तित्व क्यों नहीं धारण कर सकती है!

भावात्मक नाटक और नाट्यधर्मी अभिनय उस भाव-चेतनाको उत्थित करनेके लिए है जो साधारण-असाधारण सबमें समाहित है, उसीसे प्राणी संवेदनशील बनता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि जनसाधारणके लिए जो भावात्मक नाटक लिखे जायें वे दुरूह कल्पनासे क्लिष्ट न हों, सहज स्वाभाविक मन-के अनुरूप हों, जैसे रवीन्द्रनाथके नाटक। कहानियोंमें बेनीपुरीजीकी 'माटीकी मूरतें' भी एक सहज दृष्टान्त हैं, वे 'काग भगोड़ा'की तरह ग्रामीण हैं।

नाटक और रङ्गमञ्च तभी पुनर्जीवित हो सकता है, जब उसके लिए पुराकालका नैसर्गिक जीवन सुलभ हो। वैसे जीवनसे विच्छिन्न होकर साहित्य अथवा किसी भी ललित कलाका अस्तित्व नहीं रह सकता।

इस यन्त्र-युगमें नैसर्गिक जीवनका बड़ी तेजीसे ह्रास हो रहा है। गणतन्त्र-दिवसके अवसरपर जिन लोककलाओंका प्रदर्शन किया जाता है वे तो यान्त्रिक दृष्टिसे पिछड़े ग्रामीण प्रदेशोंकी उपज हैं। यदि यन्त्र-युगने उन्हें ग्रस लिया तो प्रदर्शनके लिए भी कुछ शेष नहीं रह जायगा। मुझे तो रेडियो और सिनेमाका भविष्य भी जीवन्त नहीं जान पड़ता। कालान्तर-में नाटकोंका स्थान औद्योगिक प्रदर्शनियों, सिनेमाका स्थान वृत्तचित्रों, रेडियोका स्थान समाचारोंको मिल जायगा। पूर्ण यन्त्रीकरण हो जानेपर जब जीवन ही सूख जायगा तब प्रदर्शनियों, वृत्तचित्रों और संवादोंकी भी आवश्यकता नहीं रह जायगी, क्योंकि इनका कर्त्ता, द्रष्टा, श्रोता मनुष्य लुप्त हो जायगा।

काशी,

२३ मई, १९५९

यन्त्र-युगकी कविता

[१]

वातावरण और संचरण

कवि-श्री सुमित्रानन्दन पन्तजीने अपनी छायावादयुगीन कविताओंकी आंग्ल प्रेरणाके सम्बन्धमें लिखा था : "पल्लव-कालमें मैं उन्नीसवीं सदीके अंग्रेजी कवियों—मुख्यत: शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टेनिसन—से विशेष रूपसे प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियोंने मुझे मशीन-युगका सौन्दर्य-बोध और मध्यवर्गीय संस्कृतिका जीवन-स्वप्न दिया है। रवि बाबूने भी भारतकी आत्माको पश्चिमकी, मशीनयुगकी, सौन्दर्य-कल्पना ही में परि-धानित किया है। पूर्व और पश्चिमका मेल उनके युगका स्लोगन भी रहा है।"

छायावादकी कविता कहीं सीधे और कहीं रवि बाबूके माध्यमसे अंग्रेजीकी रोमैण्टिक कवितासे अवश्य प्रभावित रही है, किन्तु क्या उन्नी-सवीं सदीके उक्त कवि मशीन-युगसे प्रेरित थे? क्या उनकी कवितामें कहीं कोई यान्त्रिक स्वर है? वे वैज्ञानिक युगमें अवश्य आ गये थे, किन्तु उस आरम्भिक आधुनिक युगमें 'मध्यवर्गीय संस्कृति' की तरह मध्ययुगके ही विकास थे। वे नैसर्गिक युगके कवि थे। यह ठीक है कि उनके समयमें यन्त्र-युगकी कृत्रिमता आ गयी थी, जिससे ऊबकर वर्ड्सवर्थको अपनी कविताओंमें प्रकृतिका सन्देश और निमन्त्रण देना पड़ा। उस समय वैज्ञा-निक युग अपने बाल्यकालमें था, अतएव वह कविताके दीर्घकालिक हार्दिक विकासको ग्रस नहीं सका, जीवनका 'सौन्दर्य-बोध' सभी देशोंमें सहज-स्वाभाविक बना रहा, गेटे भी कालिदासकी शकुन्तलापर मुग्ध होता रहा।

यह ध्यान देनेकी बात है कि पश्चिमकी वैज्ञानिक प्रगतिका प्रभाव कवितापर बहुत देरसे पड़ा। अंग्रेजीमें बीसवीं सदीके आरम्भ और मुख्यतः प्रथम महायुद्धके समयसे यह प्रभाव देखा जा सकता है, भारतमें दूसरे महायुद्धके आस-पास। फिर भी गान्धीवाद और छायावादका ही प्राधान्य रहा। इसका कारण यहाँका ठेठ प्राकृतिक और ग्रामीण वातावरण है। जितने अंशमें भारत वैज्ञानिक दृष्टिसे पिछड़ा रहा, उतने अंशमें प्रकृतिसे इसका सम्पर्क बना रहा। भारत ही नहीं, अन्य जिन पिछड़े देशोंमें अभी ग्रामगीतों और लोकगीतोंकी गूँज सुनायी देती है वे भी प्रकृतिके सम्पर्कमें हैं। क्या किसी वैज्ञानिक देशमें वैसे सहज-हृदय-गीत लिखे जा रहे हैं? लिखे जा सकते है?

सदाकी तरह उन्नीसवीं सदीमें भी राजनीति जीवनपर शासन कर रही थी, किन्तु उसमें भी एक हार्दिक आस्था शेष थी, जिसके कारण दृष्टिकोण उदार बना हुआ था, अतएव साहित्य राजनीतिसे विचलित न होकर सामाजिक स्तरपर भावात्मक स्वप्न देखता आ रहा था। बीसवीं सदीके आगमनके साथ उसका स्वप्न भङ्ग होने लगा। जिन देशोंमें जिस तेजीसे विज्ञानने अपनी यान्त्रिक शुष्कतासे सहज मानवीय अनुभूतियों-को सोख लिया उन देशोंमें उस तेजीसे आस्था-रहित निर्जीव यथार्थवाद आ गया। पिछली राजनीति साहित्यपर शासनारूढ़ नहीं हुई थी, अब राजनीति और विज्ञान दोनों साहित्यपर एकाधिपत्य स्थापित करते जा रहे हैं। सारा संसार दो शिविरोंमें बँट गया है—साम्यवाद (रूस) और पूँजीवाद (अमेरिका)। दोनों ही एक-से ही जड़ यान्त्रिक हैं। जो देश तटस्थ हैं, उनका अस्तित्व भी इन्हींके सहयोगपर निर्भर है। तटस्थ देशोंके साहित्यमें भी दोनों शिविरोंके शीत युद्धका अवाञ्छनीय स्वर सुनायी पड़ता है।

हमारे साहित्यमें रोमैण्टिक कविता तो अंग्रेजीके प्रभावसे आयी, किन्तु प्रगतिवादके रूपमें यन्त्र-युगकी यथार्थवादी कविता रूसके प्रभावसे

आयी। प्रगतिवादी समीक्षक कहता है—"जन-संघर्षके गति-वेगके सहारे ही हिन्दीके नये रचनाकारोंने सामाजिक वास्तविकताके उठते हुए जीवन-मूल्योंको टेर दिया है।"

चाहे रूस हो, चाहे अमेरिका, दोनोंके जीवन-मूल्य आर्थिक हैं। एकमें आर्थिक मूल्य कृत्रिम आदर्शसे ढँका हुआ है, दूसरेमें 'जन-संघर्ष'से उघर आया है। यन्त्र-युगके पूर्वका साहित्य अपनी आन्तरिक आस्थामें जीवनका सांस्कृतिक 'मूल' लेकर प्रस्फुटित हुआ था। उसमें केवल आर्थिक मूल्य नहीं, धर्म और मोक्ष भी था। परम्परावादी देशोंमें अब भी वह 'मूल' कहीं पारलौकिक स्वार्थसे, कहीं इहलौकिक राजनीतिक स्वार्थसे संरक्षित है, किन्तु अन्न और अध्यात्मके इस दुर्भिक्ष-युगमें 'मूल' भी क्या आर्थिक मूल्यके लिए निर्मूल नहीं हो जायगा? मनुष्य क्या उसे भी बेंच-कर खा नहीं जायगा?

यह युग संक्रान्ति-कालसे गुजर रहा है। इस युगमें न केवल संस्कृति, बल्कि कला-सम्बन्धी मान्यताएँ भी विवादास्पद हो गयी हैं। पन्तजी इस युगको विचार-क्रान्तिका युग मानते हैं। उन्होंने 'पर्यालोचन'में कहा है—"उन्नीसवीं सदीमें कलोंका कलाके लिए भी प्रयोग होने लगा था, वह साहित्यमें विचार-क्रान्तिका युग नहीं था। किन्तु क्या चित्रकलामें, क्या साहित्यमें, इस युगके कलाकार केवल नवीन टेकनीकोंका प्रयोग मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्यमें अधिक सङ्गतिपूर्ण ढंगसे किया जा सकेगा।"

जिसे 'विचार-क्रान्ति' कहा जाता है वह वस्तुतः औद्योगिक क्रान्ति है। इस क्रान्तिने जीवन-यापनके जीवन्त साधनों (पुराने साधनों) को समाप्त कर यन्त्रोंको प्रतिष्ठित कर दिया। इस औद्योगिक रूपान्तरसे मनुष्यका मानसिक रूपान्तर भी हो गया। रक्त-मांसकी स्नायविक शिराएँ लोहेकी यन्त्र-शिराएँ बन गयीं, वे अपनी स्वाभाविक ऊष्मासे नहीं, बिजली-से चलने लगीं। उनमें हृत्तन्त्री और वीणाके तारका तारतम्य नहीं है

और न उनकी गतिमें हार्दिक स्पन्दन है। आज कला और साहित्यमें नये-नये टेकनीक मशीनोंकी माँग है। अपनी 'पद्मनाभिका'में मैंने कहा है—"आजके कलाकारके सामने यह समस्या है कि नयी औद्योगिक प्रणालियों (मशीनोंकी पेंचीदगियों) में उलझी हुई संवेदनाओं (स्नायविक शिराओं) को किस तरह सुलझाये। उसकी समस्या टेकनिकल है।"

मशीन-युगकी जटिलताके कारण नयी कविताकी अभिव्यक्ति साङ्केतिक भी हो गयी है। जहाँ शब्द और वाक्य उसका साथ नहीं दे पाते वहाँ वह प्रेसके चिह्नोंसे भी काम चलाती है। यह उसका शॉर्टहैण्ड है।

अज्ञेयजी कहते हैं–भाषाको अपर्याप्त पाकर विराम सङ्केतोंसे, अङ्कों और सीधी-तिरछी लकीरोंसे, छोटे-बड़े टाइपसे, सीधे या उलटे अक्षरोंसे, लोगों और स्थानोंके नामोंसे, अधूरे वाक्योंसे—सभी प्रकारके इतर साधनों-से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदनाकी सृष्टिको पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।"

सगुण-काव्यमें 'अविगत गति'की और छायावादमें नीरव अनुभूतिकी जैसी अनिर्वचनीय स्थिति थी, कुछ वैसी ही स्थिति सम्प्रति नयी कविताकी अभिव्यक्तिकी भी है।

कामा, डैश, फुलस्टाप, सेमीकोलनकी तरह ही नयी कविताकी आड़ी-तिरछी लकीरें भी बाहरसे आयी हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय युगमें हमें बाहर-भीतरकी सङ्कीर्णता अभीष्ट नहीं है; किन्तु कोई भी कृति अनुकृति नहीं होनी चाहिए, अनुभूतिकी तरह अभिव्यक्तिमें भी अपनी मौलिकता होनी चाहिए। नयी कविताके सम्बन्धमें स्वयं उसीका एक प्रतिनिधि कवि कहता है—"मौलिकमें जब अनुवादका-सा 'रस' मिले तो उसको हद-से-हद एक सुन्दर भाष्य कह सकते हैं, यादमें भरमायी हुई किसी औरकी कविताका।...आज हमारी अनुभूतिकी पृष्ठभूमि भी विदेशी है; भाषाकी घड़न, उसका ढाल और साँचा (भी) विदेशी है।"

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्लके समय में प्रयोगवादका बोलबाला

नहीं हुआ था। किन्तु वे जीवित होते तो इसके सम्बन्धमें उनका क्या मन्तव्य होता, यह इन्दौर साहित्य-सम्मेलन (सन् १९३४) की साहित्य-परिषद्में अध्यक्ष-पदसे दिये गये उनके भाषणके एक विचारांशसे ज्ञात हो जाता है। कमिंग्जको एक कविताका उद्धरण देकर उन्होंने कहा है—"कमिंग्ज साहबकी समझमें यह विषयको ठीक वैसे ही सामने रखना है जैसे संवेदना उत्पन्न होती है। इसमें ऐसे शब्द नहीं हैं जो अर्थ-सम्बन्ध मिलानेके लिए या व्याकरणके अनुसार वाक्य-विन्यासके लिए लाये जाते हैं, पर संवेदना उत्पन्न करनेमें काम नहीं देते (जैसे, 'और', 'किन्तु', 'फिर' इत्यादि)। उनके अनुसार यह 'खालिस' कविता है जिसमेंसे भाषा, व्याकरण, तात्पर्य-बोध आदिका अनुरोध पूरा करनेवाले फ़ालतू शब्द निकाल दिये गये हैं।

थोड़ा सोचिए कि कमिंग्जके इस विचित्र विधानके मूलमें क्या है? काव्य-दृष्टिकी परिमिति और प्रतिभाके अनवकाशके बीच नवीनताके लिए नैराश्यपूर्ण आकुलता।"

जिस कारणसे आज नयी कविताकी मौलिकतापर सन्देह किया जा रहा है उसी कारणसे कभी आचार्य शुक्लजीको छायावादसे भी असन्तोष हो गया था। उनका कहना था—"यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था।" किन्तु छायावाद अंग्रेजीकी रोमैण्टिक कविताका अनुकरण मात्र नहीं था, उसमें अपनी प्रकृति और संस्कृति बनी हुई थी, और सच तो यह कि छायावाद और रोमैण्टिक कविताका मध्ययुगीन परिवेश एक था, अतएव दोनोंका साहित्यिक सामञ्जस्य हो गया। यही कारण है कि आगे चलकर शुक्लजी भी किसी अंश तक छायावादकी काव्यकला (विशेषतः पन्तकी काव्यकला) के प्रशंसक हो गये थे, क्योंकि उसमें उन्हें अपनी काव्य-परम्पराके अनुकूल नवीन कलात्मक उपादान मिल गये थे।

अंग्रेजीमें रोमैण्टिसिज्म और हिन्दीमें छायावादने मध्ययुगके जीवन और कला दोनोंको स्वायत्त कर अपना नूतन विकास किया था। छायावाद-

के बादकी नयी कविता नये देश-कालके वातावरणमें फिर किसी नये विकासके लिए उद्बुद्ध है। सम्प्रति वह दो दिशाओंमें विभक्त हो गयी है—एक दिशामें प्रगतिवाद है, दूसरी दिशामें प्रयोगवाद। प्रगतिवादमें कलाकारिता नहीं है, केवल ऐतिहासिक जीवन-दर्शन है। पन्तकी 'युगवाणी' अपवाद है, वह प्रयोगवादके लिए भी आदर्श है। प्रयोगवादमें कलाकारिता तो है ही, उसमें अनुभूत जीवन-दर्शन भी है। उसका जीवन-दर्शन प्रगतिवादके राजनीतिक स्तरपर नहीं, व्यक्तिवादके सामाजिक स्तरपर है; इसीलिए जैसे रोमैन्टिसिज़्मने मध्ययुगको स्वायत्त किया था वैसे ही प्रयोगवादने अपने यथार्थमें रोमैण्टिसिज़मको भी आयत्त किया है। वह पूर्णतः यान्त्रिक नहीं है, इसीलिए आस्था अभी शेष है।

प्रारम्भमें प्रगतिवाद और प्रयोगवादका अन्तर स्पष्ट नहीं हुआ था। 'तार सप्तक'के प्रथम भागमें दोनों ही प्रकार की रचनाओंका सङ्कलन किया गया था। छायावादके नवयुवक कवि ही अपनी-अपनी युग-चेतनाके अनुरूप प्रगति और प्रयोग कर रहे थे, अतएव उनकी रचनाओंमें छायावादका कला-संस्कार बना हुआ था। बादमें प्रगतिवादी छायावादके प्रभावसे मुक्त हो गये, कलाकी दृष्टिसे केवल मुक्त छन्द ही उनके पास रह गया। किन्तु प्रयोगवादी छायावादके प्रभावसे मुक्त होकर भी उससे सम्पृक्त रहे, अतएव, उनके मुक्तछन्दमें छायावादकी भाषा और शैली बनी रही। आज प्रगतिवाद और प्रयोगवादका पार्थक्य स्पष्ट देखा जा सकता है।

कहा जाता है, प्रयोगवादमें जो कला-प्रयोग हो रहा है वह फ्रान्समें उन्नीसवीं सदी (सन् १८२०) में होने लगा था। शुक्लजी भी फ्रान्सको नये-नये कला-प्रयोगोंका केन्द्र मानते थे। उन्होंने व्यंग्य किया था—फ्रान्ससे जैसे नये-नये फैशन निकलते हैं वैसे ही कलाके नये-नये तर्ज़ भी निकलते हैं।

पता नहीं, प्रयोगवाद फ्रान्ससे कहाँ तक प्रभावित है, किन्तु उसमें कुछ नाम बहुत सुनायी पड़ते हैं—टी० एस० इलियट, एजरा पाउण्ड, डी० एच० लारेन्स। इनमें कौन फ्रान्सीसी है ?

साहित्यके इतिहासकी दृष्टिसे एक बातकी ओर ध्यान जाता है। उन्नीसवीं सदीमें जब फ्रान्समें कलाके नये-नये प्रयोग किये जा रहे थे तब इंग्लैण्डमें रोमैन्टिक कविताका विकास हो रहा था। रोमैन्टिक कविता केवल फैशनेबुल नहीं थी, वह कला और जीवनमें युग-संविद्ध गम्भीर उत्तरदायित्वको लेकर उदित हुई थी। ऐसा ही संवेदनशील उत्तरदायित्व प्रथम महायुद्धके समय फिर अंग्रेजी कवितापर आ पड़ा। टी० एस० इलियटने इसका प्रतिनिधित्व किया। और जैसे रोमैन्टिक कवियोंने अपने पूर्ववर्त्ती युग तथा समकालीन युगको स्वायत्त कर नवीन प्राणोन्मेष किया, वैसे ही इलियटने रोमैन्टिक युग और यथार्थवादी वैज्ञानिक युगको आत्मसात् कर नवीन स्पन्दन दिया।

प्रथम महायुद्धसे सम्बद्ध होकर भी भारत उससे अछूता रहा, अतएव यहाँके साहित्यपर उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। यहाँके काव्य-साहित्यमें रवीन्द्रनाथके प्रभावसे अंग्रेज़ीके रोमैन्टिक युगका अङ्कुरण हो रहा था और गान्धीजीके सत्याग्रहसे सांस्कृतिक पुनर्जागरण हो रहा था। किन्तु दूसरे महायुद्धके आस-पास सभी देशोंका वातावरण एक-सा ही विषण्ण हो चला। साहित्यमें भी युग-परिवर्तन होने लगा। यथार्थ-वाद भी आया और प्रगतिवाद भी आया। दोनोंका दृष्टिकोण नकारात्मक था, ध्वंसात्मक था। किन्तु आँधी-तूफ़ान और अग्निकाण्डमें गार्हस्थ्यकी तरह साहित्यका भी एक रचनात्मक उत्तरदायित्व होता है। रचनात्मक दृष्टिसे पन्तजी भविष्यकी ओर चले गये, प्रयोगवाद इलियटके युगमें चला गया। भारतमें प्राचीन वातावरण अभी इंग्लैण्डकी तरह रूढ़िशेष है, अतएव एक ऐसे नास्तिक अथवा नकारात्मक युगमें जब कि चारों ओर भौतिक विज्ञानका प्रसार हो रहा है, देशकी तात्कालिक स्थितिमें इलियट-द्वारा प्राचीन और नवीनका आधुनिक समन्वय आउट-ऑफ़-डेट नहीं जान पड़ता। सच तो यह कि प्रथम महायुद्धके समयका दुर्धर्ष पाश्चात्य जीवन ही पिछड़े देशोंमें दूसरे महायुद्धके बाद प्रत्यक्ष हो रहा है और अब अणु-

युग सबको एक ही वातावरणमें सम्भुक्त करने जा रहा है। ज्यों-ज्यों वातावरण विषाक्त होता जायगा, त्यों-त्यों साहित्यका रचनात्मक दायित्व बढ़ता जायगा। आगे जो यह दायित्व लेगा वह इलियटके बाद संस्कृतिके सन्दर्भमें फिर किसी नयी परम्पराका प्रवर्त्तन करेगा।

प्रथम महायुद्धके पहिलेसे ही 'यान्त्रिक भौतिक जीवन'का एक 'स्वाद-हीन अवसाद' वायुमण्डलमें निश्वास लेता आ रहा था। वह युगोंके पीड़ित इतिहासका उच्छ्वास था। रोमैण्टिक कवितामें और हमारे छायावादमें भी वह विस्वाद विषाद मूक क्रन्दन कर रहा था, किन्तु भावुक कवियोंने वास्त-विकतासे विमुख होकर उस अवसाद और विषादको दार्शनिक माहात्म्य दे दिया। शेलीने कहा—हमारे मधुरतम गीत वे ही हैं जो दुःखके क्षणोंमें लिखे जाते हैं। पन्तने कहा—

दुख इस मानव-आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन,
दुख के तम को खा-खा कर
भरती प्रकाश से वह मन।

प्रसाद, निराला, महादेवीने भी दुःखका गुणगान किया। आत्मविकास-के लिए जहाँ दुःख एक सात्त्विक वैयक्तिक तप है वहाँ वह सदैव वरेण्य बना रहेगा, किन्तु जिस दुःखसे व्यक्तिका विकास नहीं बल्कि समग्र रूपसे सामाजिक जीवनका ह्रास होता है, उसे आध्यात्मिक सन्तोषसे भुलाया नहीं जा सकता।

छायावादमें जो 'स्वादहीन अवसाद' कवियोंके भाव-प्रस्फुटित हृदयसे सुवासित होकर 'हिम-परिमलकी रेशमी वायु'में संक्रमण कर रहा था वह वातावरणके बदलते ही अपने वास्तविक रूपमें स्पष्ट हो गया। 'गुञ्जन'में पन्तजीने अनुभव किया—

आते कैसे सूने पल
जीवन में ये सूने पल !
जब लगता सब विशृङ्खल,
तृण-तरु-पृथ्वी-नभमण्डल ।

खो देती उर की वीणा
झङ्कार मधुर जीवन की,
बस साँसों के तारों में
सोती स्मृति सूनेपन की ।

छायावादमें जो नीरस अवसाद सूनापन बन गया था वह नयी पीढ़ीमें और भी विकलतासे व्यक्त हुआ। 'ठेलेपर हिमालय'में धर्मवीर भारतीकी डायरी ('उचटी नींद') देखिए—

"क्या हो गया है ? सो क्यों नहीं पा रहे ?

ग्यारह बजेके क़रीब ऐसा लगा कि शायद सो जाऊँगा। पर उसी समय अकारण जो नींद उचटी तो उचट ही गयी।

लैम्प बुझाकर पड़ा रहा। सामने खिड़कीमेंसे एक पेड़ और उसपर चाँदनीके बड़े-बड़े विशाल धब्बे दीखते रहे। दूर कहीं कभी-कभी मोर बोल उठते थे और एक कोई पक्षी—पता नहीं कौन-सा—अनवरत रटसे बोलता रहा। क्या चक्रवाक था ?....। चाँदनी रह-रहकर काँप उठती थी, जैसे कोई स्तब्ध जलमें कंकड़ डालकर उसे कँपा दे।

तीन बार उठकर बाहर गया। थोड़ी देर आँगनमें टहलना चाहता था, पर बरामदेमें कई अतिथि सो रहे थे, अतः सङ्कोच लगा। कुछ किताबें पलटता रहा, बेमतलब, बेमानी।

सबके बीच इतना अकेला क्यों हूँ, आखिर क्यों ?

जागते-जागते तीन बज गये हैं। सिर्फ़ मेरी टूटी घड़ी मेरे साथ जाग

रही है। अभी दो बजकर चालीस मिनटपर अकस्मात् बन्द हो गयी। मुझे बड़ी घुटन महसूस होने लगी। मैंने उठकर फिर चला दी।

यह जो समयका अनवरत प्रवाह है इसे मैं किसी प्रकार अञ्जलिमें लेकर पी जाता!

एक ट्रेन दूर किसी लोहेके पुलपरसे गुजर रही है। पता नहीं, कहाँ जा रही है! काश, मैं इसमें बैठा होता और कहीं जा रहा होता। काश कि यह ट्रेन मुड़ जाय और आकर मेरे बँगलेके फाटकपर रुक जाय। सारी ट्रेन खाली हो और मैं अकेला इसमें बैठ जाऊँ और यह चल पड़े। और किसी घनघोर बियाबान जंगलमें किसी पुराने जर्जर पुलसे यह गिरकर चूर-चूर हो जाय तो?

उँह, कुछ भी हो—जीवनकी यह एकरसता तो भङ्ग हो।"

यह ऊब, यह घुटन, यह उचाट, यह एकरसता क्या केवल उस 'उचटी नींद'में ही है? यह तो सबके जीवनकी प्रत्येक साँसमें अणु-विकीर्णित सक्रिय किरणोंकी तरह समा गयी है।

अपने युगकी आधी शताब्दीका सिंहावलोकन करते हुए पन्तजीने कहा है—"इन वर्षोंके साहित्यिक इतिहासके मुखपर एक भारी वितृष्णा-भरे अवसादका घूँघट पड़ा रहा।" केवल अपने देशका ही नहीं, स्वाधीन-पराधीन, सम्पन्न-विपन्न सभी देशोंका वातावरण आज भी एक-सा ही अवसन्न और विपण्ण है। इस वातावरणका निराकरण करनेके लिए हमें उसके कारणको ठीक परिप्रेक्ष्यमें देखना होगा।

नयी कविताके दो कवियोंके संक्षिप्त इतिवृत्तसे 'कारण'का कुछ स्पष्टीकरण होता है। विजयदेव नारायण साही कहते हैं—'जन्मके समय निम्न मध्यवर्गका था, तबसे पाँच भाइयोंके बीच संख्या और आर्थिक स्तर दोनोंमें ही असन्तुलित वृद्धि होती रही है', जिसके कारण परिवारमें कटुता भी रही है। पारिवारिक परिस्थितियोंको 'ठंडे बौद्धिक स्तरपर

सिद्धान्त, मूल्यों एवं प्रतिमानोंका जामा पहनाने' की प्रवृत्तिसे विचारों और अनुभूतियोंको काफ़ी सामग्री मिलती रही।

ऐसी ही परिस्थिति और प्रवृत्ति सर्वेश्वरदयाल सक्सेनाकी भी जान पड़ती है। उनका बचपन प्रकृतिके वातावरणमें बीता, किन्तु 'आर्थिक संघर्षसे उत्पन्न पारिवारिक कलह भी बचपनके साथी रहे।'

इन दो कवियोंके जीवन-वृत्तमें विपण्णताका मुख्य कारण आर्थिक और अवान्तर कारण पारिवारिक है। निश्चय ही पूँजीवाद और यन्त्रवाद-से परिचालित निर्जीव अर्थशास्त्रने उस संवेदनाको समाप्त कर दिया है जो व्यक्तिको परिवारसे, परिवारको समाजसे, समाजको संसारसे समरस करती रही है। नैतिक सम्बद्धताका सूत्र (संवेदनशीलता) टूट जानेके कारण धनिक-श्रमिक प्रत्येक प्राणी जीवनमें अकेला पड़ गया है, विकलाङ्ग हो गया है—यही उसका अवसाद है, यही उसका विपाद है, यही उसका सूनापन है। राजनीतिक स्तरपर पुञ्जीभूत होकर सबका एकाकीपन ही अब 'पञ्चशील'का आह्वान कर रहा है।

अप्रैलमें विश्व-स्वास्थ्य-दिवसके अवसरपर डाक्टरोंने भी मनुष्यकी विषण्ण मनःस्थितिपर मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि "आजकल अधिकांश लोग मानसिक रोगसे पीड़ित होते जा रहे हैं। घरेलू झगड़े, अच्छे भोजनका अभाव, पेशेका ग़लत चुनाव, असामा-जिक वातावरण, ये सब मानसिक रोगके कारण हैं।"

तुलनात्मक दृष्टिसे भारतीय डाक्टरोंने भारतको अच्छे स्वास्थ्यका सार्टिफिकेट दिया है, उनका कहना है—"भारतमें मानसिक पीड़ितोंकी संख्या विदेशोंके मुक़ाबिले कम है। इसका कारण हमारे यहाँ संयुक्त परि-वारकी परम्परा है। संयुक्त परिवारमें स्त्री या पुरुष अपनेको अकेला नहीं पाता। यद्यपि विदेशोंमें जीवनका स्तर ऊँचा है और जीवनके अन्य साधन भी उपलब्ध हैं, परन्तु मानसिक रोग वहाँ अधिक हैं, क्योंकि वहाँके लोगोंका गृहस्थ-आश्रम सुखमय नहीं है। पाश्चात्य देशोंमें संयुक्त परिवार

न होने और पति-पत्नी दोनोंके जीविकोपार्जनमें लग जानेके कारण बच्चों-की देखभालके लिए पर्याप्त समय और उनके हार्दिक विकासके लिए माता-पिताका स्नेह नहीं मिल पाता, अतएव उनका मस्तिष्क रुग्ण हो जाता है।''

डाक्टरोंने मानसिक अस्वस्थताका कारण तो ठीक बतलाया, किन्तु यह भी विचारणीय है कि पाश्चात्य देशोंमें गार्हस्थ्य जीवन क्यों नहीं है, संयुक्त परिवारका विघटन क्यों हो गया है, पति-पत्नी दोनों जीविको-पार्जनमें क्यों लग गये हैं ? (अथवा आजीविकाके क्षेत्रमें वे भी विघटित क्यों हो गये हैं ?) इसका प्रत्यक्ष कारण तो व्यापारिक अर्थशास्त्र और यान्त्रिक उद्योगवाद हो सकता है, जिसके कारण मनुष्य बाजारू और बेदर्द हो गया है, किन्तु कारण इतना सीधा नहीं जान पड़ता। क्या व्यापार और उद्योगका समष्टीकरण कर देनेसे विषमता मिट जायगी ? किसी भी युगमें मनुष्यके व्यक्तिगत स्वभाव और संस्कारका वैषम्य बना रहेगा, परि-वारमें भी सबका मनोगठन एक-सा ही नहीं होगा, उद्योग और अर्थोपार्जनमें भी सबका श्रम और भोग एक समान नहीं होगा (उसमें शारीरिक और मानसिक वैभिन्न्य बना रहेगा); तो वह क्या है जो इस विषमता और भिन्नतामें भी सन्तुलन बनाये रखती है, जैसे सृष्टिकी विविधतामें भी एकता। वह है संस्कृति। सांस्कृतिक दृष्टिसे पन्तजीका यह कहना ठीक है—

'अर्थ-साम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवनके दुख।'

हमें ऐसा अर्थशास्त्र और उद्योग चाहिए जिससे मनुष्यका दैनिक योग-क्षेम भी चले और उसका सांस्कृतिक विकास भी हो सके। गान्धीजी इसी ओर प्रयत्नशील थे।

व्यापारिक अर्थशास्त्र और यान्त्रिक उद्योगवादके कारण सबके जीवनमें जो विषण्णता आ गयी है, उसका विक्षोभ नयी कवितामें व्यक्त हो रहा है। यह तो स्वाभाविक ही है, किन्तु कारणको छोड़कर अकारणकी ओर नहीं भटक जाना चाहिए, अपने उत्साहके आवेशमें संस्कृतिको नहीं भूल

जाना चाहिए, अन्यथा समस्या ज्योंकी-त्यों बनी रहेगी और मनुष्य इसका ओर-छोर और ठहराव नहीं पा सकेगा।

सम्प्रति भारतमें भी गार्हस्थ्यका अभाव होता जा रहा है, संयुक्त परिवार टूटता जा रहा है, व्यक्ति अकेला पड़ता जा रहा है, तन-मनको सामाजिक पोषण नहीं मिल रहा है, अतएव पाश्चात्य देशोंकी व्याधियाँ यहाँ भी फैल रही हैं। किन्हीं आलोचकोंका कहना है कि नयी कवितामें 'न्यूरोसिस' (कुण्ठा) और 'नर्व्स ब्रेक डाउन' (स्नायविक गतिभङ्ग) है। यदि यह बात किसी अंश तक सच है तो इससे वातावरणकी वस्तुस्थिति सूचित होती है।

किसी युगमें मनुष्यने शतञ्जीवी होनेकी कामना की थी, आज उसके लिए एक-एक क्षण जीना भारी हो रहा है। नया कवि एक क्षण जीकर सम्पूर्ण जीवन जी लेना चाहता है। यह यन्त्र-युगमें जीवनकी क्षीणताका सूचक है, क्या मनुष्य भी कीटाणु हो गया है?

एक समीक्षक कहता है कि नयी हिन्दी कवितामें जीवनका क्षणवादी दर्शन बर्गसाँ, सार्त्र, डी० एच० लारेन्स, जेम्स ज्वायस, वर्जिनिया वुल्फके प्रभावसे आया है। किन्तु इसके पहिले छायावादमें भी क्षणका माहात्म्य था—

'एक क्षण अखिल दिशावधि-हीन,
एक रस, नाम-रूप अज्ञात।'

यह 'एक क्षण', 'एक रस' ऐन्द्रियिक होकर भी अपनी अनिर्वचनीय अनुभूतिमें अतीन्द्रिय और असीम था।

यद्यपि अज्ञेयजीने भी कहीं 'क्षण'को 'दिशावधि-हीन' (देश-कालकी सीमाओंसे परे विशद रूपमें) देखा है, तथापि नयी कवितामें क्षण देश-कालसे सीमित है, भागते हुए समयका एक छोटा-सा कन्सेशन है। फिर

भी जीवन कहाँ मिलता है ? यदि क्षण-भरका भी जीवन मिल जाता तो शेष समय मनुष्य स्मृतिसे ही सञ्जीव रहता ।

जीवन तो मिलता नहीं, मनुष्य पान-बीड़ी-चाय-सिगरेटसे भाराक्रान्त मनको हलका करनेका प्रयत्न करता है । टी. एस. इलियट कहता है—

"परिचित हूँ इन शामों, सुबहों, दुपहरियोंसे; मैंने अपने जीवनको कॉफ़ीके चम्मचोंसे नापा है ।"

युग चाहे छायावादका हो, चाहे प्रगतिवाद और प्रयोगवादका हो; मनुष्यको पारस्परिक सहयोगका सुख नहीं मिल सका है, सामाजिक जीवन अब भी भविष्याधीन है । अज्ञेयजी सहयोग और सामाजिकता चाहते हैं, कहते हैं—

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्तिको दे दो ।

किन्तु एक ऐसे स्वार्थ-सङ्कुल युगमें जब कि प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक व्यक्ति 'आउट साइडर' हो गया है, वह 'पंक्ति' है कहाँ जहाँ मनुष्य समवेत हो सके ?

[२]

कला और जीवन दर्शन

हृत्तन्त्रीके तार टूट जाने (अथवा प्राण-प्रवेगसे स्फीत हो जाने) के कारण जीवनका स्वर विशृङ्खल अथवा निर्बन्ध हो गया है, वह मुक्त

छन्दकी ओर चला गया है। निरालाजीने काव्यकी दृष्टिसे मुक्तछन्दको ग्रहण किया था, उन्होंने कवितासे कहा था—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्द्ध विकच इस हृदय-कमलमें आ तू
प्रिये ! छोड़कर बन्धनमय छन्दोंकी छोटी राह

जो कालके छोटे-से कण (क्षण) को भी अपने लिए पर्याप्त समझता है उसकी कविताके लिए 'बन्धनमय छन्दोंकी छोटी राह' भी अग्राह्य नहीं होनी चाहिए। किन्तु नयी कवितामें मुक्तछन्द काव्यकी दृष्टिसे नहीं, गद्यकी दृष्टिसे प्रयुक्त हो रहा है। उसके द्वारा यन्त्र-युगके गद्यको गतिशील करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। नये कवियोंके मुक्तछन्दसे काव्य-प्रेमियोंको सन्तोष नहीं है, क्योंकि उसमें गति-विन्यास नहीं है।

नयी कवितामें कई तरहके कवि मुक्तछन्द लिख रहे हैं—(१) कुछ केवल अपने यौवनोचित उत्साहसे काव्यक्षेत्रमें आ गये हैं, उन्हें कविताका गतिबोध (छन्दबोध) नहीं है, थोड़ा-बहुत गद्यका ही अभ्यास है। (२) जिन्हें छन्दबोध है वे भी जिन्दगीसे ऐसे ऊबे और झुँझलाये हुए हैं कि हृदयके टूक-टूक हो जानेके कारण उन्हें सङ्गीत असह्य हो गया है, अतएव उनके उद्गारोंमें छन्द ही नहीं, गद्य भी खण्डित-विचूर्णित हो गया है, वाक्य छितरा गया है। ऐसे कवियोंने कभी सहज-सरल गीत भी लिखे थे। (३) जिन कवियोंके पैर अभी लड़खड़ा नहीं गये हैं वे मुक्त होकर भी गतिमें सधे हुए हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि युगकी विपन्नतामें जनसाधारणकी तरह नये कवियोंकी साँसें भी रुँधी हुई हैं, वे अभिव्यक्तिके लिए विकल हैं, बहुत कुछ कहना चाहते हैं, किन्तु वाणी साथ नहीं दे पाती है। स्वभावतः

वे कवि हैं, अतएव उनके टूटे-फूटे वाक्योंमें भी एक कलात्मकता पैदा हो गयी है, अभिव्यक्तिमें नाटकीयता और मादकता आ गयी है। यदि कलात्मकता नहीं होती तो उद्गार विक्षिप्तोंका कोलाहल-मात्र रह जाता। यद्यपि युगका वातावरण सबके लिए एक-सा ही विषाक्त है तथापि अपने-अपने निःश्वासोंकी तरह सबकी अनुभूतियाँ भी अपनी-अपनी हैं। अनुभूतियोंके अनुसार जीवनको देखने समझनेके लिए सबकी अपनी-अपनी फिलासफ़ी भी बन गयी है। अपनी फिलासफ़ीमें वे सही या ग़लत हो सकते हैं, किन्तु उनका मनोमन्थन उपेक्षणीय नहीं है, उसे प्यार करना चाहिए। प्रसादजी-के शब्दोंमें—

ये मोती बन जायँ मृदुल करसे लो
सहला दो !

नये कवि मुक्तछन्दमें जैसे विशृङ्खल हो गये हैं, वैसे ही जीवनमें उच्छृङ्खल भी हो गये हैं। निरालाजीने कभी कहा था—

जीवनकी गति कुटिल अन्ध-तम-जाल;
फँस जाता हूँ, तुम्हें नहीं पाता हूँ प्रिय,
आता हूँ पीछे डाल

—ऐसी ही स्थिति नये कवियोंकी भी है। किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अवरुद्ध स्रोतकी तरह उनका अहं उफ़न पड़ा है। अहं जीवनका एक उद्बुद्ध ओज है, किसी रचनात्मक दिशामें अग्रसर होकर ही उसका सदुपयोग किया जा सकता है।

चाहे मुक्तछन्द हो, चाहे अहं हो; दोनोंके लिए हृदयकी तरलता अथवा स्निग्धता अपेक्षित है, तभी उफ़ान रस-प्रवाह भी बन सकता है।

निर्जीव और रूक्ष यन्त्र भी स्निग्धताकी अपेक्षा रखता है, तरल द्रवसे स्निग्ध होकर ही वह गतिशील होता है। स्निग्धताके अभावमें जैसे यन्त्रोंमें रगड़ पैदा हो जाती है, वैसे ही मनुष्योंमें भी; यहाँ उसे कुण्ठा कहते हैं।

यह चिन्तनीय है कि यन्त्र-युगके कवि समाजसे तो अपने लिए स्निग्धता (सहानुभूति) चाहते हैं, किन्तु स्वयं समाजको कोई स्निग्धता नहीं देते, कटु आलोचना करते हैं। समाज तो यन्त्रवत् जड़ है, क्या कवि भी उसीकी तरह हैं? क्या यह युग कुण्ठाओंका, अहम्का संघर्ष-मात्र बनकर रह जायगा? कवियोंको तो अपनी आत्मसाधना (सेवा, ममता, स्नेह, सहयोग, उत्सर्ग) से समाजको सजीव करना चाहिए।

निरालाजीने कहा है—

अहंकृतिमें झंकृति—जीवन—
सरस अविराम पतन-उत्थान

अहंकृतिमें भी 'झंकृति' चाहिए, वही जीवन है। उसीसे 'अविराम पतन-उत्थान' सरस हो जाता है, इतिहास भी काव्य बन जाता है। नयी कविताके छन्द और जीवन-दर्शनमें भी सङ्गीत (लय-सामञ्जस्य) अपेक्षित है। कवि प्रवक्ता ही नहीं, कलाकार भी तो है; वह हृत्तन्त्रीके टूटे तारोंको भी झंकृत कर सकता है।

नयी कविता प्रायः वक्तृता बन गयी है। छायावाद भावके द्वारा रसका उद्रेक करता था, गद्य-युग (चाहे वह द्विवेदी-युग हो चाहे यह यन्त्र-युग) वाग्वैदग्ध्यके द्वारा विचारको उत्तेजित करता है। माध्यमके अनुरूप ही दोनोंकी अनुभूति और अभिव्यक्ति हैं। छायावादमें श्रोताके साथ आत्मीयता थी, गद्य-(काव्य ?) में श्रोतासे तटस्थता है; कवि व्याख्यानदाता हो गया है। मैथिलीशरण गुप्तने कहा था—

सम्मान्य बननेको यहाँ वक्तृत्व अच्छी युक्ति है
अगुआ हमारा है वही जिसके गले में उक्ति है ।

नयी कवितामें भी द्विवेदी-युगकी तरह युक्ति और उक्ति है । वाक्-चातुर्य और वाग्वैदग्ध्यमें काव्यका स्वाभाविक हृदय नहीं है । यह चातुर्य और वैदग्ध्य तो प्रगतिवादमें भी था, तब प्रयोगवादमें उससे क्या भिन्नता या विशेषता आ गयी ? प्रगतिवाद रूढ़ हो गया था, प्रयोगवाद शिल्प (कला) और जीवन-दर्शनमें ग्रह-मुक्त हो गया । वह प्रयोगशील है, इसीलिए उसमें रोमांस और रोमाण्टिसिज्म भी है ।

नवीनताका अर्थ अनास्था (उच्छृङ्खलता) और दुराग्रह (हठवादिता) नहीं होना चाहिए । अज्ञेयजीने शब्द और चित्रके नये प्रयोगोंका जो सुझाव दिया था उसका दुरुपयोग भी होने लगा । किसी नौसिखुए कविने कहा था—'चाँदनी चन्दन-सदृश हम क्यों लिखें ?' यदि चाँदनी चन्दन-सदृश नहीं जान पड़ती तो मत लिखिए । किन्तु इसीलिए कि उसकी अनुभूति चन्दन-सदृश भी हो चुकी है, उसे झुठलाया नहीं जा सकता । वातावरण और मनःस्थितिके अनुसार शब्द और चित्र स्वतः उद्दिष्ट होते हैं, केवल नवीनताके लिए कविताके साथ बलात्कार नहीं करना चाहिए ।

छायावाद-युग और यन्त्र-युगके दो चित्र 'सन्ध्या'में देखिए । निरालाजी लिखते हैं—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिराञ्चल में चञ्चलताका नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास ।

निरालाजीको जो सन्ध्या गम्भीर सुन्दरी परी-सी जान पड़ी, वही इलियटको बीमार और मनहूस जान पड़ी—

"आओ हम चलें, तुम और मैं,
जब कि शाम आसमान में फैली है—
आपरेशन की मेज़ पर लेटे शीशी सुँघाये बीमार-सी;
आओ हम चलें उन आधी खाली सड़कों से
जहाँ के सस्ते होटलों मे—
भुनभुनाती बेचैन रातें फिर लौट रही हैं।

इन दो चित्रोंमें कौन सही है ? वातावरण और मनःस्थितिके अनुसार दोनों सही हैं। इनमें दो युगोंका अन्तर पड़ गया है, एकमें छायावाद (भाव-सत्य) का नैसर्गिक युग है, दूसरेमें यथार्थवाद (वस्तु-सत्य) का यान्त्रिक युग।

शब्द और चित्रकी तरह कविताके विषय भी नये और पुराने हो सकते हैं। जिसे जो उपलब्ध हो और जिसका जिसमें मन रम जाय, वह उसे ही अभिव्यक्त करे। कविताका विषय खञ्जन भी हो सकता है और इन्जन भी हो सकता है। शून्यसे लेकर सृष्टि तक काव्यविषयका प्रसार है। अज्ञेयजी काव्यके विषय और वस्तुमें विभेद करते हैं। वे कहते हैं—"काव्यका विषय और काव्यकी वस्तु (कण्टेण्ट) अलग-अलग चीजें हैं....। यह बिलकुल सम्भव है कि हम काव्यके लिए नये-से-नया विषय चुनें, पर वस्तु उसकी पुरानी ही रहे; जैसे यह भी सम्भव है कि विषय पुराना रहे पर वस्तु नयी हो....।"—चाहे विषय हो या वस्तु—'वह सत्यके साथ खिलवाड़ या फ्लर्टेशन न हो।'

किसी भी युगकी सब रचनाएँ उच्चकोटिकी नहीं होतीं। जो अच्छी होती हैं उनमें अपने युगकी काव्यगत विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। नयी

कविताकी पहली नवीनता उसके चित्रोंमें है। उद्‌गारोंके प्रवाहके अनुसार मुक्तछन्दकी लघु-दीर्घ पंक्तियोंमें कहीं संक्षिप्त और साङ्केतिक शब्द-चित्र हैं, कहीं विशद और सुस्पष्ट चित्र हैं। रागका संवेदन कहीं लुप्त है,कहीं लुप्त। सब मिलाकर नयी कविताके चित्र-राग जीवनको आलोडित-विलोडित करते हैं; स्नायुओंको कहीं अवकाश देते हैं, कहीं व्यस्त कर देते हैं।

नयी कविताकी दूसरी नवीनता मुक्तककी शैलीमें है। छायावादका गीतकाव्य प्रगीत मुक्तक था। नयी कविताका चित्रकाव्य प्रायः मुक्तक निबन्ध है। द्विवेदी-युगके प्रबन्ध और खण्डकाव्यने नाटक, उपन्यास और कहानीकी कला ली थी; नयी कविताके मुक्तक निबन्धने डायरी, संस्मरण, पत्र, स्कैच, रिपोर्ट इत्यादि गद्यकी आधुनिक विधाएँ भी लीं। सब मिलाकर कलाकी दृष्टिसे नयी कवितामें द्विवेदी-युगके इतिवृत्तात्मक पद्य और उसके विशदरूप प्रबन्ध और खण्डकाव्यका अभिनव विकास हुआ है। क्या छायावादका प्रगीत मुक्तक छूट गया ? वह भी नये कवियोंका स्वगत भाव बन गया है। स्वकेन्द्रित होनेके कारण नयी कविता आत्मकथात्मक है। जहाँ उसमें सहानुभूति है वहाँ लोकात्मक भी है। वह विविध युगोंसे समवेत् है।

कभी प्रगतिवादसे भिन्न रूपमें पहिचाननेके लिए नयी कविताको प्रयोगवाद कहा गया था। 'प्रयोग' के साथ 'वाद' के जुड़ जानेसे नयी कविताकी हदबन्दी हो जाती थी। प्रयोगकी चिरन्तनता समाप्त हो जाती थी, अतएव अब उसे प्रयोगवाद न कहकर 'नयी कविता' कहा जाने लगा है। स्वयं अज्ञेयजी को प्रयोग 'वाद'के रूपमें स्वीकार नहीं है। उन्होंने कहा है—"प्रयोगका कोई वाद नहीं है।''''ठीक इसी तरह कविताका भी कोई वाद नहीं है; कविता भी अपने-आपमें इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कविता-वादी' कहना।"—निष्कर्ष यह कि कविता और प्रयोग दोनों साधन हैं, माध्यम हैं। प्रयोग "दोहरा साधन है, क्योंकि एक तो वह उस सत्यको

जाननेका साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषणकी क्रियाको और उसके साधनोंको जाननेका भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्यको अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकता है।"

इस दृष्टिसे प्रयोग जीवन्त और कलात्मक है। अज्ञेयजीने इसे दुहरे साधनके रूपमें 'वस्तु' और 'शिल्प' का प्रयोग कहा है। यह प्रश्न उठता है कि इस प्रयोगशील कविताको किस अभिधासे पहिचाना जाय ? क्या 'नयी कविता' कहनेसे काम चल जायगा ? कौन-सी नयी कविता ? क्या आज जो नयी है, कल भी वह नयी रहेगी ? आज और कलकी दृष्टिसे नयी कवितामें भी हदबन्दी आ जाती है। क्यों न इसे हम मुक्त कविता या मुक्तकाव्य कहें ? मुक्त केवल छन्दमें ही नहीं, जीवनके दर्शनमें भी; तभी तो कविता चिरन्तन प्रयोगशील हो सकती है। कोई भी मुक्त कविता रोमैण्टिक हो जायगी, चाहे वह किसी भी युगकी हो। शायद 'मुक्त' अथवा 'प्रमुक्त' शब्द भी पर्याप्त नहीं है; क्योंकि यह भी कभी अतीत हो जाता है।

प्रत्येक युग परिवर्तनशील है, परिवर्तनशीलता ही उसकी सजीवता है। परिवर्तनके द्वारा युग फ़ालतू चीज़ोंकी छँटनी करता है और कामकी चीज़ों-को जीवन और साहित्यमें सँजो जाता है। रोमैण्टिकमेंसे जो कुछ क्लासिक (काल-सिद्ध) हो जाता है, वही युग-पर-युग बीत जानेपर भी स्थायी रह जाता है। चाहे भक्ति और शृङ्गारिक युग हो, चाहे सुधारवादी द्विवेदी-युग हो, चाहे रसस्रष्टा और स्वप्नद्रष्टा छायावाद-युग हो, ये सभी अपने किसी-न-किसी सजीव तत्त्वसे कालसिद्ध हो चुके हैं। साहित्यमें इनका केवल ऐतिहासिक अस्तित्व नहीं है, बल्कि जीवन और कलाकी दृष्टिसे भी इनका स्थायी महत्त्व है और रहेगा। युग ज्यों-ज्यों जटिल और कृत्रिम होता जायगा, त्यों-त्यों वह क्लासिक साहित्यमेंसे ही सञ्जीवनी शक्ति ग्रहण करेगा।

नयी कविता अभी कालसिद्ध नहीं हो सकी है, किन्तु उसमें ग्राहकता है, इसीलिए उसका आयाम (फैलाव अथवा परिव्याप्ति) विस्तीर्ण है। पन्तजी कहते हैं—"नयी कविता हिन्दीमें एक प्रकारसे छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवादकी उत्तराधिकारिणी बनकर आयी है, अतः उसमें उपर्युक्त सभी प्रकारकी चेतनाओं और भावनाओंके सूत गुम्फित मिलते हैं।"

शम्भूनाथ सिंह भी नयी कवितामें छायावाद-प्रगतिवाद-प्रयोगवादका संयोजन देखते हैं, साथ ही यह भी कहते हैं—इन सबसे भिन्न यह "एक नयी काव्य-प्रवृत्ति है, क्योंकि उसमें और भी कई ऐसे तत्त्व हैं जो इसके पहिले किसी युगकी कवितामें इस मात्रा और रूपमें नहीं मिलते।"

यहीं अज्ञेयजीका यह कथन स्मरण आता है—"अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।" सब कुछ आज ही कहा नहीं जा सकता, इसलिए भविष्यके लिए भी शेष है।

जगदीश गुप्त लिखते हैं—"उसके द्वारा गृहीत मानवीयताका रूप इतना व्यापक और स्वाभाविक है कि उसे किसी बँधी-बँधायी देशी-विदेशी परिभाषामें घेरकर सीमित करना अथवा उसके कारण नयी कविताको उपेक्षा-भावसे देखना, दृष्टि-सङ्कोच और भावनात्मक अक्षमताका परिचायक ही कहा जायगा।"

वास्तवमें बहुमुखी नयी कविताकी अनुभूतियों और अभिव्यक्तियोंमें इतनी विविधता है कि उसे किसी एक परिधिमें पर्यवसित नहीं किया जा सकता। किसी एक कविकी अपनी अनुभूतियों और अभिव्यक्तियोंमें भी एकता नहीं है। मदन वात्स्यायन लिखते हैं—"ग्रीष्मके आकाशमें बादलोंकी तरह, पुराने हिन्दुस्तानमें नया वातावरण सहसा उमड़ पड़ा है, और उसके नये सत्यको ग्रहण करनेमें नयी कविता चारों ओर अच्छे-बुरे पौधोंके बेतरतीब बरसाती जंगल-सी उग आयी है। कहीं करुणाकी झाड़ीमें हास्यकी डाली घुसी पड़ती है, कहीं वीर रसके पेड़पर शृङ्गार रसकी

लता छायी है, कहीं एक ही पौधेमें दो डालियाँ हैं दो अलग-अलग जातिकी।''

इतनी विविधता और विषमता है नयी कवितामें। फिर भी समग्र रूपसे नयी कवितामें और व्यक्तिगत रूपसे कवि-विशेषकी कवितामें एक परिसंवादात्मक सामञ्जस्य है। यह सामञ्जस्य कवियोंके परस्परपूरक मनोभावसे सम्भव हुआ है। अज्ञेयजीने 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' में इसी सहयोगमूलक (अथवा उद्देश्यमूलक) सामञ्जस्यकी ओर सङ्केत किया है—

> ''दूर दूर दूर.......मैं सेतु हूँ
> किन्तु शून्यसे शून्यतकका सतरंगी सेतु नहीं,
> वह सेतु
> जो मानवसे मानवका हाथ मिलनेसे बनता है।''

नयी कविता चाहे जितनी विविधताओंमें विभक्त होकर भी एक हो, किन्तु उसमें दो युगोंका आवागमन है—(१) निसर्ग-युग (ग्रामीण युग), (२) यन्त्र-युग (नागरिकयुग)।

प्रयोगवादके प्रमुख प्रवक्ता अज्ञेयजीका यन्त्र-युगपर विश्वास नहीं है। उन्होंने कहा है—

> यन्त्र हमें दलते हैं
> और हम अपनेको छलते हैं

अज्ञेयजी यन्त्रोंमें उलझी संवेदनाओंकी अपेक्षा, मनुष्यकी वैयक्तिक और सामाजिक जटिलताओंमें उलझी संवेदनाओंको कलात्मक टेकनिकों और अनुभूत सत्योंसे सुलझाना चाहते हैं, ऐसा ही प्रयत्न अन्य नये कवि भी कर रहे हैं।

यन्त्रोंमें उलझी संवेदनाओंको सुलझाना प्रगतिवादका प्रयास हो सकता है, क्योंकि वह उसीकी उपज है। नारों और ललकारोंसे उसे केवल अपना जीवन-दर्शन ही नहीं देना है, टेकनिकमें उन्नति भी करना है, उसे मनोवैज्ञानिक बनाना है। चाहे जीवन हो, चाहे कला; अनुभूति और अभिव्यक्ति ढँपसे नहीं, मनुष्यके रागात्मक सम्बन्धोंसे ही सफल हो सकती है। सम्प्रति प्रगतिवाद अपनी अस्तित्व-रक्षाके लिए प्रयोगवादके ही टेकनिक ले रहा है। यह तो कोई नयी बात नहीं है। 'तारसप्तक'के पहिले और दूसरे भागमें भी प्रगतिवाद प्रयोगवादके साथ था। फिर प्रगतिवादी आलोचक चिन्तित क्यों हो उठते हैं!

प्रगतिवादके जीवन-दर्शनपर जैसे यन्त्र-युगका प्रभाव पड़ा है, वैसे ही प्रयोगवादके कलाभिव्यञ्जनपर भी उसका प्रभाव पड़ा है, इसीलिए प्रगतिवादियोंको उसके टेकनिक अपने अनुकूल जान पड़ते हैं। यन्त्र-युगका प्रभाव प्रयोगवादके छन्द, भाषा, शब्दचित्र और शैलीमें देखा जा सकता है।

यद्यपि प्रयोगवाद प्रगतिवादकी तरह वर्ग-संघर्षसे प्रेरित नहीं है, तथापि वह भी सर्वसाधारणकी ओर उन्मुख है। उसका साधारण जन वर्ग-वैषम्यसे पीड़ित निम्न वर्ग नहीं है, बल्कि शाश्वत सामान्य लोकमानव है। प्रयोगवादमें उसे ही 'लघु मानव' कहा गया है। इस लघुमानवका मनोरथ द्विवेदी-युगमें भी उद्गीर्ण हुआ था—

"यही होता हे जगदाधार!
छोटा-सा घर-आँगन होता, इतना ही परिवार।
छोटा खेत द्वारपर होता, स्वजनों का समवाय,
थोड़ा-सा व्यय होता मेरा, थोड़ी-सी ही आय,
घर ही गाँव, गाँव ही मेरा होता सब संसार,
यही होता हे जगदाधार!

कहीं न कोई शासक होता और न उसका काम,
होता नहीं भले ही तू भी, रहता केवल नाम,
दया धर्म होता बस घट में जिस पर तेरा प्यार
यही होता है जगदाधार !

गाता हुआ गीत ऐसा ही रहता मैं स्वच्छन्द,
तू भी जिन्हें स्वर्ग में सुनकर पाता परमानन्द,
होते यन्त्र न तन्त्र और ये आयुध यान अपार,
यही होता है जगदाधार !

होता नहीं क्रान्ति कोलाहल, शान्ति खेलती आप,
जैसा आता बस वैसा ही जाता मैं चुपचाप।
स्वजनों में ही चर्चा छिड़ती, सो भी दिन दो चार,
यही होता है जगदाधार !"

—यह महत्त्वाकांक्षा-शून्य मानव गान्धीकी जनता अथवा रामराज्यकी प्रजा है।. कालके अनन्त प्रवाहमें-से प्रयोगवादने जैसे छोटे-छोटे क्षण लिये वैसे ही लघु मानव और उसके लघुपरिवेशको भी लिया। उसका लघु रेखाङ्कन और सूक्ष्म जीवन-स्पन्दन बड़े-बड़े चित्रों और प्रवचनोंसे अधिक मार्मिक है। पन्तजीके 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'में तथा निराला-जीके 'नये पत्ते'में भी ऐसे चित्र हैं।

अभी हमारे देशका पूर्णतः औद्योगिकीकरण नहीं हो गया है, अतएव आज भी नयी कविता नैसर्गिक युगको लेकर चल रही है, प्रकृति और संस्कृतिको मौलिक रूपमें व्यक्त कर रही है। 'गीतिका'में निरालाजीने वीणावादिनीसे कहा था—

नव गति, नव लय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव;
नव नभके नव विहग-वृन्दको
नव पर, नव स्वर दे।

आज छायावादका गीतकाव्य नवीन यौवन लेकर नये कण्ठोंसे पुनः गुञ्जरित हो रहा है। उसकी कोमलता, मधुरता, चित्रमयता पिछली पीढ़ीकी कविताओंसे भी अधिक सरस और सहज सजीव है। छायावादके नये गीत अखबारोंके नीरस कलेवरमें काव्य-सञ्चार कर रहे हैं। वे दैनिक 'आज' और साप्ताहिक 'धर्मयुग'में देखे जा सकते हैं। मासिक पत्र-पत्रिकाओंमें नहींके बराबर मिलेंगे (उनमें तो मुक्तछन्द और प्रयोग-वादका ही प्राधान्य है)।

शिक्षा और आजीविकाके लिए गाँवोंके जो नवयुवक नगरोंमें आ गये हैं वे अपने नैसर्गिक अनुरागसे प्रेरित होकर छायावादके अतिरिक्त ग्रामीण बोलियोंमें भी गीत लिख रहे हैं। छायावाद और ग्रामीण बोलियोंके नये गीत एक ही रस-परिवारके हैं, सहोदर हैं। इन गीतोंसे प्रगतिवाद और प्रयोगवाद फीका लगने लगता है। दोनों बासी हो गये हैं। ताज़गी-की दृष्टिसे ये नये गीत ही नयी कविता हैं—

"इस कविता-धाराका आदि स्रोत जन-गीत है। जन-समाजकी तन्मय भावधाराके रससे डबडब होकर नयी कविता अत्यधिक सप्राण हो उठी है।"

हिन्दीमें छायावादके बाद प्रगतिवाद पहिले आया, प्रयोगवाद उसके बाद; छायावाद और ग्रामबोलियोंके नये गीत प्रयोगवादके बाद। जो सबसे पीछे आया वह आगे हो गया। अब नयी कविताका तात्कालिक क्रम यह है—(१) नया छायावाद और नया ग्रामगीत, (२) प्रयोगवाद,

(३) प्रगतिवाद। इस काव्यक्रममें अब भी छायावाद पहिलेकी तरह ही अपने अग्रस्थानपर है।

प्रगतिवादका दावा है कि नये ग्राम-गीत उसीके जन-आन्दोलनसे निःसृत हुए हैं। यदि ऐसा होता तो उसमें भी यान्त्रिक अथवा आरोपित स्वर सुनायी पड़ता। ऐतिहासिक सचाई यह है कि इस यन्त्र-युगमें एक बार फिर प्राकृतिक युगका प्रत्यावर्तन हो रहा है, बिजलीके युगमें मिट्टीके स्नेह-दीपककी तरह। आञ्चलिक उपन्यास और कहानियाँ भी इसीके प्रमाण हैं।

ग्रामीण संस्कारोंके कवि प्रगतिवादमें भी आये थे, किन्तु वे कवि न होकर वर्ग-प्रचारक हो गये। उसकी अपेक्षा प्रयोगवादमें प्रकृतिके पुजारी कवि अधिक आये, उनमें हार्दिक संस्कार बना रहा। जिनमें छायावाद और ग्रामगीतोंका संस्कार नहीं था वे भी वातावरण और जीवनको कविजनोचित तटस्थतासे देख सके। यह दूसरी बात है कि स्वानुभूतिके कारण (अथवा मौलिकताके कारण) उनकी दृष्टिमें अपना-अपना एप्रोच भी है। दृष्टि कोई खोखली चीज तो है नहीं।

सम्प्रति विज्ञान और राजनीतिके कारण जीवन उत्तरोत्तर जटिल और व्यक्तित्व-शून्य होता जा रहा है। ऐसे कृत्रिम युगमें स्वभाव-सहज कविता-का भविष्य संदिग्ध हो गया है। किन्तु प्रकृतिको मिटाकर कोई युग चल नहीं सकता। जब तक प्रकृति है तब तक कविता भी है।

युग और युगातीत प्रवृत्तियाँ सदासे साथ-साथ चलती आ रही हैं, भविष्यमें भी चलेंगी। पन्तजीके शब्दोंमें—

"यह लौकिक औ प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला,
आ रहा सृष्टिके साथ पला।
....

गा सके खगों-सा मेरा कवि
विश्री जग की सन्ध्या की छवि,
गा सके खगों-सा मेरा कवि
फिर हो प्रभात,—फिर आवे रवि।"

काशी,
२ मई, १९५९

वीरेन्द्रकी काव्य-सृष्टि

वर्षों पहिले वीरेन्द्र (श्री वीरेन्द्रकुमार जैन : 'धर्मयुग', बम्बई) की कहानियोंका एक संग्रह प्रकाशित हुआ था—'आत्मपरिणय।' इसमें अपनी अभीष्ट नारी चेतनाको कुलकन्याओंके शील और सौन्दर्यमें साकार कर अतीन्द्रिय हृदयसे प्यार किया था, यही था उसका 'आत्मपरिणय'।

उन कहानियोंमें केवल भावुकता नहीं थी। समाजके विषम धरातल-पर ही उसने अपनी दिव्याओंका प्रादुर्भाव वैसे ही किया था, जैसे रवीन्द्र और शरतने। भावात्मक होते हुए भी 'आत्मपरिणय'के नारी-चित्र प्रत्यक्ष चरित्रोंकी तरह ही स्वाभाविक थे—राधा, शकुन्तला, प्रियंवदा, यशोधरा, अञ्जनाकी तरह।

कहानियोंमें वीरेन्द्रकी जो मानसी सृष्टि और कवि-दृष्टि थी वह उसकी कविताओंमें और भी जीवन्त हो गयी। अपनी कहानियों और कविताओंमें वीरेन्द्रकी सृष्टि और दृष्टि इसलिए सपनोली जान पड़ती है कि जो चित्र उसके अभ्यन्तरमें प्रत्यक्ष हो चुका है वह बाह्य जगत्में अभी अगोचर है, जैसे 'समुद्रोंकी आकाशलीन दूरियाँ।' उसने अपनी कविताओंके संग्रह-का नाम 'अनागताकी आँखें' रखा है, इससे उसकी सृष्टि और दृष्टिकी भविष्णुता सूचित होती है।

आधुनिक हिन्दी-कवितामें अनागत भविष्यके प्रकल्पक कवि-मनीषी श्री पन्तजी हैं। उनके बाद नयी कवितामें भी दो-एक कवियोंने अपनी-अपनी दृष्टिसे अनागतको अपने ही जीवित अस्तित्वमें देखा है। शम्भूनाथ सिंह कहते हैं—

मैं अनागत सृष्टिका आधार हूँ,
क्योंकि ओ मेरी अनामे, मैं तुम्हारा प्यार हूँ।

केदारनाथ सिंहको अनागतका साक्षात्कार अपने चारों ओरके दैनिक जीवन और प्रतिदिनके उपकरणोंमें हो जाता है—

"इस अनागतको करें क्या !
जो कि अक्सर
बिना सोचे, बिना जाने
सड़क पर चलते अचानक
दीख जाता है।
किताबों में घूमता है
रातकी वीरान गलियों बीच
गाता है।
राहके हर मोड़से होकर गुज़र जाता है।
दिन ढले सूने घरोंमें लौट आता है।
बाँसुरीको छेड़ता है,
खिड़कियोंके बन्द शीशे तोड़ जाता है।
किवाड़ों पर लिखे नामोंको मिटा देता,
बिस्तरों पर छाप अपनी छोड़ जाता है।
इस अनागतको करें क्या !
जो न आता है, न जाता है।"
....

नयी कवितामें (और 'आत्मपरिणय'-द्वारा प्रसाद-प्रेमचन्द-युगकी कहानियोंमें भी) वीरेन्द्र एक नया रोमांस और नया रोमाण्टिसिज़्म ले आया है। रूप और रसका आकर्षण उसमें भी है, किन्तु इसीके माध्यमसे

सौन्दर्य और प्रेमको उसने एक विशेष अनुभूति और विशेष अभिव्यक्तिमें उपस्थित कर दिया है। सौन्दर्य उसे एक चित्र-बिन्दु प्रदान करता है, प्रेम उस बिन्दुको विश्वव्यापक कर देता है। यह ऐसे ही स्वाभाविक है जैसे राधिकाकी दृष्टि और सृष्टि—'सिगरो जग साँवरो-साँवरो सूझै।' इसी तरह कृष्ण भी यदि संसारको राधामय देखे तो जिस सौन्दर्य और प्रेमका अनुभव होगा वही अनुभव वीरेन्द्रकी कविताओंमें भी है। पुरुष यदि परमेश्वर हो सकता है तो नारी भी परमेश्वरी हो सकती है। वीरेन्द्र परमेश्वर नहीं, साधारण मानव है; किन्तु उसने अपनी असाधारण कवि-दृष्टिसे नारीको परमेश्वरीके रूपमें देखा है। आदरणीय पन्तजीने 'ग्राम्या'में कहा है—

नारीकी सुन्दरता पर मैं होता नहीं विमोहित,
शोभाका ऐश्वर्य मुझे करता अवश्य आनन्दित।
विशद स्त्रीत्वका ही मैं मनमें करता हूँ नित पूजन,
जब आभादेही नारी आह्लाद प्रेम कर वर्षण
मधुर मानवीको महिमासे भूको करती पावन।

वीरेन्द्रने अपनी कविताओंमें इसी आभादेही मानवीको विशद चित्रपट दिया है, उसे काव्यसे सुगम मनोरम कर दिया है। ऐसी मानवी प्रेम (भाव) से ही प्रत्यक्ष हो सकती है। इसी सूक्ष्म रागात्मक स्तरपर वीरेन्द्र कहता है—

अगोचर अनन्तकी चिरगोपन मोहकता
भर आयी मेरी बाँहोंमें
और खुल पड़ी अनायास।

इस तरह 'अगोचर अनन्तकी चिरगोपन मोहकता' (नारी), निर्गुण निराकारकी सगुण अभिव्यक्ति बन गयी है। इस यथार्थवादी युगमें वीरेन्द्र सगुण-काव्यका नया कवि है। मध्ययुगके सगुणको ही उसने देश-कालका

उपादान लेकर समृद्ध कर दिया है। सगुण सर्वथा आध्यात्मिक नहीं, सदेह होकर पञ्चभौतिक भी है। अध्यात्म अपने युगकी समस्याओं और साधनोंसे समाविष्ट होकर ही सूक्ष्म अथवा सांस्कृतिक प्रेरणा जगाता आया है। वीरेन्द्रने भी अपने भावी युगके सगुणमें आत्माका भौतिकीकरण और भौतिकका आत्मीकरण कर दिया है।

वीरेन्द्रकी सगुण नारी एक ऐसी शाश्वत मधुर चेतना है जो सृष्टिकी तरह ही अजस्र है। वह—

'नव-नवीन रङ्गिनी, अनन्त रूप भङ्गिनी
विश्व-यौवनकी कामना-तरङ्गिनी' है।

केवल लीला-विलासमें नहीं, 'बल्कि विश्वके विराट वस्तु-व्यापारमें' वह प्रकृतिकी तरह सञ्चरण कर रही है। कवि पन्तजीने अपनी नयी रचनाओंमें अध्यात्म और विज्ञानके जिस समन्वयका सङ्केत किया है, वही समन्वय वीरेन्द्रकी कविताओंमें सहज सुन्दर हो गया है। उसकी अनागता अनामिका नारी सुदूरवासिनी होकर भी अन्तर्दृष्टिके टेलिविजनपर प्रत्यक्ष हो गयी है, चिन्मयी मृण्मयी बन गयी है।

वीरेन्द्रकी कविताओंके कैसे-कैसे प्रतीक हैं, कैसे-कैसे भाव और दृश्य-चित्र हैं! देखिए, विश्वरङ्गिणी नारीके भेजे सुगन्धित रंगीन रूमाल—

'आजकल तुम्हारे रूमालोंका मौसम है!
तुम्हारे भेजे ये नीले, सफ़ेद, लेवण्डर रूमाल
धुन्धमेंसे खुलते भोरके मोतिया सागरपर
दूर मछुओंके नावोंके पाल
उन पर पहली किरनकी आभामें
काँपती तुम्हारी अँगुलियोंकी अँजुलियाँ;

तुम्हारी गोरी कलाइयोंकी
तनिमामें तिरतीं जल-चमेलियाँ ।"

देखिए वीरेन्द्रका 'मनीला शर्ट'—

"मैं मौसम-मौसम के बदले रंगोंके अनुसार
नाना रंग डिजाइनों के,
मनीला शर्ट पहनता हूँ फूल-बूटेदार
....
तुम क्या जानो कि मैं स्वयं सरला प्रकृति को
अनायास अपने तन पर
पहने घूमता हूँ
देखते हो, यह मेरा गहरा बैंजनी मनीला शर्ट,
जिसमें नीले-हरे-सफ़ेद, बारीक फूल-बूटों की
गहरी-गहरी गुँथीली जालियाँ हैं :
इसमें जाने तुम क्या देखते होगे ?
मुझे तो इसमें संथाल गाँवोंके लाल माटी के आँगन दीखते हैं
उनमें दूर-दूर जाती घनी हरी वन-वीथियाँ
उनके डाल-पातों की झिलमिलियों में
वनान्तरगामिनी, लाजवन्ती, नीलनयना नदियाँ ।
नदियों के आँचल में, दुपहर की हवा में बजती
बाँस-वनों की बाँसुरियाँ :
किसी विजन-तीर में एकाकी अवसन नहाती
बाला वहू की चौकन्नी निगाहें :
सन्नाटे-से भाराहत, उसके वक्षोजों की विदेशिनी पुलकावलियाँ ।"

कितनी विशदता है इन चित्रोंमें ! वीरेन्द्रकी यही रंगीनी और

रोमांस पृथ्वीका नवीन रोमाण्टिसिज्म बन गया है। नवप्रभात उसे आगामी युगका सङ्केत-पत्र दे गया है। कितनी साधना और व्यापकता है उसके भविष्यके पार्थिव जीवनमें—

"सरदीके इस नीलमी सबेरे
पूर्वाञ्चलका डाकिया
पहली किरन की डोरी में बँधी
किसकी कुंकुमी पाती
डाल गया मेरी खिड़की पर।

....

लगा कि कोई खबर आयी है
उस पातीमें, मानवके आगामी मन्वन्तर की।
अनदेखे लोकोंके नीलाभ क्षितिज
बन गये हैं उस पातीकी पंक्तियाँ।

....

मिल कर हमने चुनौती दी थी
मानवीय प्रणयसे योगियोंकी निर्विकल्प समाधियोंको।
मिलकर बुने थे हमने सपने उस दुनियाके
जहाँ भगवानका योग
मरण-विनाश-संघर्ष-ग्रस्त मानवकी धरतीपर
उतर आयेगा अमृतका भोग बनकर।"

वीरेन्द्रके काव्य-चित्र निश्चल निष्पन्द वस्तुचित्र मात्र नहीं हैं, वे स्पन्दनशील भावचित्र हैं; उनमें शिल्पीके तन-मन-जीवनकी तरह ही रूप, रंग, रस और गति है। प्रयोगवादी कवितामें वीरेन्द्रके ये काव्यचित्र एक अपनी मौलिक विशेषता रखते हैं। 'फागुनकी माधुरी धूप'में उसे कहीं

सौन्दर्यका प्रकाश ('वसन्तका मदनमोहन उजियाला') मिलता है, कहीं सौन्दर्यका रसास्वादन—'मुकुलित मञ्जरित हापुसकी यह खटमीठी गन्ध !' कैसी स्वाभाविक और सार्थक रसव्यञ्जना है।

वीरेन्द्रका कवि-हृदय अत्यन्त संवेदनशील और अत्यन्त सुकोमल है। किन्तु उसकी कोमलतामें भी जो एक द्रवित शक्ति है वही अपनी अकुण्ठित गतिसे मुक्तछन्दमें प्रवाहित हो उठी है। कितना आवेग है उसके छन्द-प्रवाहमें, कितना उद्वेग है उद्गारोंमें ! जैसे शरीरकी परिधि छोड़कर प्राण प्रवहमान और पवमान हो गया हो। आकाश, समुद्र, पृथ्वी और युग-युगान्तरकी तरह उसके उद्गारोंका भी आर-पार नहीं है, द्रौपदीके दुकूलकी तरह दुरन्त विस्तार है।

छन्दकी तरह वीरेन्द्रकी भाषा भी उन्मुक्त है। किन्तु वह यान्त्रिक नहीं है, हार्दिक है। उसमें गीतका माधुर्य भी है, गद्यका ओज भी है। गीतकाव्य ही ओजसे ओजस्वी हो गया है, अन्तःकरण ही युगचरण हो गया है। सब मिलाकर कविताकी तरह उसकी भाषाका भी मूलस्वर एक है—विश्वप्रेम।

उसकी कविताके कलेवरमें कहानी सूक्ष्म शिरा बन गयी है। उसमें कथानक नहीं, संवेग है। कोई एक अंग, कोई एक दृश्य, कोई एक घटना, कोई एक संवेदना कहानीकी ओरसे काव्यकी प्रेरणा दे जाती है। कहानीकी तरह कवितामें भी वीरेन्द्रने एक नयी भाव-कथाका सूत्रपात किया है।

उसकी भाषा, छन्द, उद्गार रसानुकूल कहीं आकुञ्चित हैं, कहीं आस्फालित; कहीं हिलकोरित हैं, कहीं हिल्लोलित; कहीं ऋजु हैं, कहीं कुञ्चित; इस मन्द-क्षिप्र गतिसे वीरेन्द्रकी शैलीमें एक नाट्यभङ्गिमा आ गयी है।

नाना वाद-विवादोंके इस युगमें वीरेन्द्र किस 'वाद'के अन्तर्गत है ? उसकी कवितामें कोई एक वाद नहीं, सर्ववाद है। वह वादी नहीं, संवादी है। उसमें छायावादका अध्यात्म भी है, प्रयोगवादका शिल्प भी है, प्रगति-

वादका विक्षोभ भी है, विज्ञानका सदुपयोग भी है। उसकी कवितामें सभी वादोंका बड़ी स्वाभाविकतासे सामञ्जस्य हुआ है। ऐसा सामञ्जस्य नयी कवितामें दुर्लभ है। यदि किसी एक ही कवितामें वीरेन्द्रकी सभी विशेषताएँ देखनी हों तो बुद्धकी दो हज़ार पाँच सौवीं जयन्तीपर लिखी उसकी कवितामें देखी जा सकती हैं। आलोचकोंने इसे उस अवसरकी सर्वश्रेष्ठ कविता कहा था।

काशी,
५ मई, १९५९

विश्वविद्यालयीय समीक्षा

दैनिक 'आज'के साप्ताहिक विशेषाङ्क (११ जनवरी, सन् १९५९) में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशीके अंग्रेजी प्राध्यापक डॉक्टर रामअवध द्विवेदी-का एक लेख 'आधुनिक हिन्दी-आलोचनाके प्रतिमान' शीर्षक प्रकाशित हुआ है। उस लेखमें आलोचना-साहित्यका जो सर्वेक्षण किया गया है वह प्रति-वेदनके रूपमें ठीक है, किन्तु निष्कर्ष और निदानके रूपमें मुझे कुछ मूलभूत बातें कहनी हैं।

रामअवधजी लिखते हैं—"हिन्दी-साहित्यिक आलोचना धीरे-धीरे सिमटकर विश्वविद्यालयों और कालेजोंमें केन्द्रित हो रही है और उसका मूल स्वर दिनपर दिन अकादमिक अर्थात् विद्यालयीय होता जा रहा है। अकादमिक आलोचना बुरी नहीं होती। विद्यालयोंसे सम्बद्ध विद्वानोंमें किसी प्रश्नपर निष्पक्ष विचार करनेकी शक्ति दूसरोंकी अपेक्षा अधिक होती है। वे किसी समस्याके पक्ष और विपक्ष दोनोंपर ध्यान दे सकते हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण कभी-कभी अत्यधिक सङ्कुचित हो जाता है, क्योंकि उनका ध्यान पुस्तकोंकी ओर अधिक और वास्तविक जीवनकी ओर कम रहता है। यथार्थ जीवनके सम्पर्कसे कथनमें जो ताजगी आती है उससे विद्यालयीय आलोचना कभी-कभी वञ्चित रह जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दीके प्राय: ८० प्रतिशत आलोचक विद्यालयोंमें पढ़ानेवाले हैं।....देखा यह जाता है कि अधिकांश प्रबन्धोंमें तथ्यों और तिथियोंकी खोजको प्रमुखता दी जाती है और कलात्मक वैशिष्ट्यका विवेचन केवल गौण रूपमें किया जाता है। साहित्यिक आलोचनाका केन्द्रबिन्दु साहित्य है, इतिहास नहीं; अतः प्रधानता कलात्मक कृतित्वकी व्याख्याको ही मिलनी चाहिए।"

इस प्रतिवेदनके बाद रामअवधजीने यह सन्देश दिया है—"प्रत्येक युगमें कुछ ऐसे विश्वास होते हैं जो वैविध्यके होते हुए भी एकरसता या एकरूपताका अनुभव कराते हैं। इन विश्वासोंको हम युगका जीवन-दर्शन कह सकते हैं और इसीके अन्तर्गत कलादर्शन अथवा सौन्दर्यदर्शनका समावेश होता है, क्योंकि जीवनसे परे किसी सौन्दर्यदर्शनकी कल्पना हम नहीं कर सकते।"

रामअवधजी सूचित करते हैं कि—"हमारा कोई सौन्दर्यदर्शन नहीं है। जब हम कलाकी बात करते हैं तो कभी प्राचीन आचार्योंको साक्षी-रूपमें पेश करते हैं और कभी पाश्चात्य विचारकोंका नाम लेते हैं।" स्वयं रामअवधजी इस प्रवृत्तिसे पृथक् नहीं जान पड़ते, तभी तो आलोचनाके *आदर्शके रूपमें उन्होंने शुक्लजीका नाम उपस्थित किया है। वे कहते हैं*—"आज हिन्दीमें पण्डित रामचन्द्र शुक्लकी कोटिका एक भी आलोचक नहीं है।···शुक्लजीमें पाण्डित्यके साथ उच्च कोटिका विवेक था और सौन्दर्य परखनेकी शक्ति थी। उनमें सहानुभूति थी और सहृदयता थी। उनकी अन्तर्दृष्टि अत्यन्त पैनी थी। ये सभी बातें आजके किसी एक आलोचकमें नहीं मिलतीं।"

यद्यपि रामअवधजीने आलोचनाको शुक्लजीमें सीमित नहीं किया है, तथापि उनके माध्यमसे उन्होंने आलोचनाके 'प्रतिमान'को मूर्त्तिमान अथवा कीर्त्तिमान किया है। मेरा निवेदन है कि शुक्लजी हों या उनसे अनु-प्रेरित कोई भी विद्यालयीय आलोचक हों, वे जीवन और साहित्यका रचनात्मक पक्ष छोड़ गये हैं। जैसा कि रामअवधजीने कहा है—"जीवनसे परे किसी सौन्दर्य-दर्शनकी कल्पना हम नहीं कर सकते", तो प्रश्न यह है कि जो जीवन सौन्दर्यका आधार है स्वयं उस जीवनका आधार क्या है? रामअवधजी युगीन विश्वासोंको जीवन-दर्शन मानते हैं। किन्तु जीवनका दर्शन और निर्माण (सृजन अथवा रचनात्मक पक्ष) युगीन विश्वासोंसे स्पष्ट नहीं होता। जीवनका यह क्रियापक्ष साहित्यके लिए

अनिवार्य हो गया है, अब वह युग नहीं है जब साहित्यालोचन केवल सैद्धान्तिक था। रामअवधजीको भी विद्यालयीय आलोचकोंके सम्बन्धमें कहना पड़ा है कि "उनका ध्यान पुस्तकोंकी ओर अधिक और वास्तविक जीवनकी ओर कम रहता है।" आचार्य शुक्लजी भी कवियोंको नित्य-जीवनकी ओर ध्यान देनेका परामर्श देते थे। फिर भी यह प्रश्न सामने आता है कि वास्तविक जीवन या नित्यजीवनका आधार क्या है, वह स्वयं किस प्रक्रियाकी निष्पत्ति है? रामअवधजीने कहा है—'साहित्यिक आलोचनाका केन्द्रबिन्दु साहित्य है, इतिहास नहीं'; यहाँ इतिहाससे उनका अभिप्राय साहित्यके अनुसन्धानात्मक तथ्योंसे है, किन्तु इससे भिन्न जीवन और साहित्यकी प्रक्रियाके रूपमें मार्क्सवाद इतिहासको ही देखता है, इसीलिए एक विशेष अर्थमें उसकी समीक्षा ऐतिहासिक समीक्षा हो जाती है। इतिहास जीवनको समझनेमें सहायक हो सकता है, किन्तु वह स्वयं जीवनकी प्रक्रिया नहीं। जीवनकी स्वाभाविक प्रक्रिया गान्धीवादमें मिलती है। गान्धीवाद केवल युगीन विश्वास नहीं, बल्कि जीवनकी नैसर्गिक प्रक्रियाका शाश्वत दर्शन है। कार्यपक्ष (जीवनके आधारपक्ष) में जो गान्धीवाद है वही भाव-पक्ष (सौन्दर्य-पक्ष) में छायावाद है। जीवन और साहित्यमें क्लासिकके भीतरसे ही रोमैण्टिकका आविर्भाव होता है। कालक्रमसे दोनोंमें अभिव्यक्तिका विभेद हो सकता है, अनुभूतिका नहीं; तभी तो कीट्स शेक्सपियर बनना चाहता था।

जीवनकी तरह ही साहित्यके निर्माणमें भी एक मूलभूत चेतना क्रियाशील होती है, चाहे वह गान्धीकी आत्मस्थता हो, चाहे छायावादकी आन्तरिकता। यही वह केन्द्रबिन्दु है जिसपर स्थित होकर उसीके अनुरूप स्रष्टा और द्रष्टा जीवन और साहित्यमें उत्पादक (कर्त्ता) और उपभोक्ता (आस्वादक) बनता है। किन्तु जीवन और साहित्यको बाह्य दृष्टिसे देखनेवाले, प्राणीकी इस स्वगत स्थितिको या तो समझ नहीं पाते या समझना नहीं चाहते। फलतः वे प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं, जैसे छायावादके

सम्बन्धमें शुक्लजी हो गये थे। वे छायावादको आलङ्कारिक दृष्टिसे ही देख सके थे, फलतः उसे काव्यकी एक शैलीके रूपमें ही ग्रहण कर सके, उसका मर्मस्पर्श नहीं कर सके, उसकी आत्मा अछूती ही रह गयी।

काव्य और समीक्षामें शुक्लजीने अंग्रेजी शब्दोंके जो हिन्दी शब्द दिये उन शब्दोंसे अर्थ स्पष्ट नहीं होता। रोमाण्टिसिज्मको स्वच्छन्दतावाद और नयी काव्यसमीक्षाको उन्होंने प्रभाववादी कहा है। स्वच्छन्दतावाद विद्रूप जान पड़ता है। 'स्व'को यदि सब्जेक्टिव रूपमें ग्रहण करें तो 'स्वच्छन्दता' कुछ सार्थक हो सकती है। किन्तु शुक्लजीने स्वच्छन्दताका प्रयोग प्रचलित अर्थमें किया है। 'स्व' वही मूलचेतना है जिसपर केन्द्रस्थ होकर रचयिता मौलिक रचना करता है, यही 'स्व' तुलसीके स्वान्तःसुखमें है। शुक्लजी यदि स्वको स्वयं भी स्व-स्थ होकर देखते तो छायावाद और प्रभाववादी समीक्षाको स्वाभाविकता-पूर्वक उपस्थित करते। किन्तु जीवन और साहित्यमें उनका दृष्टिकोण ऑब्जेक्टिव था। वे फार्मलिस्ट थे, रीतिकालके ही अर्वाचीन आचार्य थे। जीवन और साहित्यमें बाह्य रूपाङ्कनको ही सर्वोपरि स्थान देते थे। उन्होंने कहा है—

रूप जो आभास तुझे सत्य-सत्य देंगे
उन्हींको समर्थ जान अन्तस् जगानेको।

स्थूल (रूप-जगत्) और सूक्ष्म (अन्तर्जगत्) का मतभेद चिरन्तन है। सबको विचार-स्वातन्त्र्यका अधिकार है तो सूक्ष्म ('अन्तस्') का भी दृष्टिकोण उसके सही रूपमें उपस्थित करना चाहिए।

प्रभाववादी समीक्षाको किसी उपयुक्त शब्दके अभावमें हम रोमैण्टिक समीक्षा कह सकते हैं। यह समीक्षा केवल भावात्मक ही नहीं है, कलात्मक भी है। 'पल्लव'के 'प्रवेश'में पन्तने शब्द, छन्द, सङ्गीत, चित्रको जिस मार्मिकतासे परखा है उस सूक्ष्म दृष्टिसे कोई अकादमिक समीक्षक नहीं

परख सका। अंग्रेजीके रोमैण्टिक कवियोंकी भाँति ही छायावादके कवियों-को भी अपनी रचनाओंके भाव और कलाका उद्‌घाटन करना पड़ा। प्रारम्भमें प्रतिक्रियावादियोंने उनका विरोध किया, बादमें छायावादको स्वीकार किया; किन्तु रोमैण्टिक समीक्षाको प्रभाववादी कहकर बट्‌टे-खाते-में डाल दिया। छायावादको अनेक कवियोंसे बल मिला, किन्तु प्रभाववादी समीक्षक एकाकी पड़ गया, अकादमिक समीक्षकोंने अपने बहुमतसे उसकी उसी तरह उपेक्षा की जैसे कभी छायावादकी उपेक्षा की थी। वास्तवमें तथाकथित प्रभाववादी समीक्षा ही रचनात्मक है, अकादमिक समीक्षा केवल सैद्‌धान्तिक। भाव और कलाकी विवेचनामें प्रभाववादी समीक्षा स्वयं भी अपनेमें वैसे ही मौलिक कृति है जैसे कोई स्वतन्त्र रचना। रोमैण्टिक समीक्षा, रचनात्मक समीक्षा है। इस रूपमें इसके महत्त्वको जो आँक सकेंगे वे ही अकादमिक सिद्‌धान्तोंका विकास कर सकेंगे।

यदि हम रोमाण्टिसिज्मको ठीक-ठीक समझ लें तो तथाकथित प्रभाव-वादी समीक्षाको भी ठीकसे हृदयङ्गम कर सकेंगे। यद्यपि छायावाद शब्द चल पड़ा है, किन्तु उससे रोमाण्टिसिज्मकी सूक्ष्मता (छाया) का ही सङ्केत मिलता है, उसकी भावप्रक्रिया स्पष्ट नहीं हो पाती। रोमाण्टि-सिज्मकी भाव-प्रक्रियाको एक शब्दमें मर्मोद्रेक कह सकते हैं। रामअवधजी-ने एक उपयुक्त अन्तर्व्यञ्जक शब्द दिया है—'उत्सिक्त'। वे लिखते हैं—"जिस प्रकार कवि सौन्दर्यानुभूतिसे उत्सिक्त तथा प्रेरणाके वशीभूत होकर काव्यसर्जन करता है उसी भाँति आलोचक भी।"—इस कथनसे रोमैण्टिक कवि और समीक्षकका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसीके वज़नपर रोमा-ण्टिसिज्मकी भाव-प्रक्रिया (मर्मोद्रेक) को हम कह सकते हैं—उत्साह। 'स्वच्छन्दतावाद'की अपेक्षा यह अधिक स्वच्छ है।

विश्वविद्यालयीय समीक्षाके सम्बन्धमें मेरा उपालम्भ यह है कि वह अनुत्सिक्त है, अकादमिक समीक्षक अनुत्सिक्त हैं। रामअवधजीके ही शब्दों-में, 'अनुत्सिक्त आलोचक उतना ही विफल सिद्‌ध होता है जितना अनु-

त्सिक्त कवि ।' जो भावोंकी प्रक्रियाको हृदयङ्गम कर सकता है वही लेखन-कला (टेकनिक) को भी हृदयङ्गम कर सकता है ।

'उत्सिक्त' होनेके लिए स्व-स्थता, मूलस्थता अनिवार्य है; अन्यथा आलोचकमें मौलिकता नहीं आ सकती । खेद है कि विश्वविद्यालयीय समीक्षकोंमें मौलिकताका अभाव है, वे केवल आचार्योंके निःसत्त्व अनुयायी हैं । सच तो यह है कि अकादमिक शिक्षासे व्युत्पन्नता (मौलिकता) नहीं आ सकती, बँधे-बँधाये पाठ्यक्रमसे बुद्धि इतनी जकड़ जाती है कि प्रातिभ-चेतनाका प्रस्फुरण नहीं हो पाता । आवश्यकता है स्वाध्याय की । किन्तु इस परीक्षोपयोगी शिक्षाके आर्थिक युगमें स्वाध्यायके लिए न अवकाश है, न साहित्यानुराग है ।

रामअवधजी अपेक्षाकृत अपने साहित्यिक विचारोंमें उदार जान पड़ते हैं, किन्तु वे भी निष्प्रभ अकादमिक संस्कारोंसे मुक्त नहीं हो सके हैं । प्रभाववादी समीक्षाके सम्बन्धमें उनका यह कथन भ्रमोत्पादक है—"प्रभाववादी आलोचनाका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह किसीको बहुत ऊँचा उछाल देती है तो किसीको बहुत नीचे गिरा देती है ।"—यह कथन द्विवेदी-युगके उन आलोचकों (सर्वश्री लाला भगवानदीन, पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु) की समीक्षापर लागू हो सकता है जो तुलनात्मक समालोचना लिखते थे । प्रभाववादी समीक्षक तुलना नहीं करता, कृति और कृतीसे तादात्म्य स्थापित करता है । जहाँ द्वैत है ही नहीं, वहाँ तुलनाकी क्या आवश्यकता !

रामअवधजी प्रभाववादी समीक्षाके साथ न्याय नहीं कर सके हैं, उनके कथनमें उसके प्रति उनका जो रुख है उसीके कारण उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्यकी रूप-रेखा'में प्रभाववादी समीक्षाका नामोल्लेख तक भी नहीं किया है, केवल विश्वविद्यालयीय समीक्षकोंका उल्लेख कर अपने वर्ग (अध्यापक-वर्ग) के साथ पक्षपात किया है । अपने पूर्वोक्त कथनमें वे आगे कहते हैं—(प्रभाववादी समीक्षामें) 'स्वीकृत

नियमों और सिद्धान्तोंके अभावमें अन्तिम न्यायका कोई साधन ही नहीं रहता।' निवेदन है कि असीम भावनाओं और असीम प्रतिध्वनियों (सहानुभूतियों) के लिए कोई निश्चित नियम और सिद्धान्त नहीं हो सकता। पन्तकी पंक्ति याद आती है—'हम जगतीके नियमोंपर अनियमसे शासन करते।' लैसिंग कहता है—"व्यक्तिगत प्रतिभा समस्त शास्त्रीय नियमोंसे ऊपर है। प्रतिभा नियमोंकी अनुगामिनी नहीं, बरन् नियम ही प्रतिभाके अनुगामी हैं। कलाके आलोचक वे ही हो सकते हैं जो कि साहित्यके सृजनकर्ता भी हैं। प्रतिभाशाली लेखकको किन्हीं शास्त्रीय नियमोंका आश्रय नहीं चाहिए, वह स्वयं ही अपनेमें उन नियमोंका दर्शन कर लेता है जो उसके भावको व्यक्त करनेमें सहायक होते हैं।"

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि आखिर किस सूत्रसे रोमैण्टिक साहित्य और रोमैण्टिक समीक्षाको समझा जाय ? उत्तरमें निवेदन है कि वह सूत्र अन्तःसूत्र है, उसीका नाम है संवेदनशीलता। काव्यके लिए ही नहीं, साहित्यके किसी भी विषयके लिए यही अन्तर्वृत्ति ग्राहिकाशक्ति है। इसे ही आत्मस्थता, सहृदयता, मौलिकता भी कह सकते हैं। इसी आन्तरिक सजीवताके अभावमें अकादमिक (विश्वविद्यालयीय) समीक्षा निश्चल है, यन्त्रवत् जड़ है।

काशी,
जनवरी, सन् १९५९

युगाभास

छात्रोंकी अनुशासन-हीनता और बेकारीके कारण नेता लोग चिन्तित हो उठे हैं। उनका ध्यान दूषित शिक्षा-प्रणालीकी ओर गया है। वे उसे बदलना चाहते हैं। कहाँ बदल पाते हैं! ऐसे भी लोग हैं जो शिक्षा-प्रणालीको बदलनेकी बात कहते हैं, किन्तु पक्ष अंग्रेजीका लेते हैं, हिन्दीका विरोध करते हैं। इस दुहरी नीतिसे स्वाधीन देशकी मौलिक आत्मा भला कैसे जग सकती है!

समस्या शिक्षा-प्रणाली बदल देनेसे ही हल नहीं होगी। छात्र, अध्यापक तथा अन्य बुद्धिजीवी ही तो सम्पूर्ण देश नहीं हैं। कहा जा सकता है, प्रबुद्ध शिक्षितोंके नेतृत्वसे शेष समाजका भी मानसिक विकास हो जायगा। ऐसा नेतृत्व तो आज भी अपना निर्देशन दे रहा है, फिर भी अनुशासन-हीनता और लोलुपता बनी हुई है।

शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, कलाके क्षेत्रसे ही नहीं, जीवनके सभी क्षेत्रोंसे मानवताका लोप क्यों हो गया है? सब कुछ व्यवसाय क्यों बन गया है? किसके लिए उसका बलिदान कर दिया गया है? वह है जड़ अर्थशास्त्र, जो सबको अपनी ही तरह जड़ बननेके लिए विवश करता है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्षमें केवल अर्थ ही सबका पुरुषार्थ (!) बन गया है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें उसका प्राधान्य ही नहीं, एकाधिपत्य हो गया है; तब किसको भला कहें, किसको बुरा!

दूषित शिक्षा-प्रणाली हो चाहे अन्य कोई विकृत कार्य-प्रणाली, सभी अमानुषिक एवं असामाजिक प्रणालियोंको बदलनेके लिए सबसे पहिले अर्थ-प्रणाली बदलनेकी आवश्यकता है। उसके बदल जानेसे सभी प्रणालियाँ बदल जायँगी, अपढ़ भी सुघड़ हो जायगा। अभी तो सुपढ़ भी अनगढ़ अथवा असंस्कृत है।

प्रचलित अर्थ-प्रणालीको पूँजीवादी कहा जाता है। पूँजीवादके प्रति असन्तोष अर्थ-प्रणालीको बदलनेका आह्वान है। जमींदारी तो चली गयी, उसके बाद पूँजीवाद भी चला जायगा। उसके स्थानपर किस अर्थ-प्रणालीको स्थापित किया जायगा? कवि कहता है—

साम्यवादके साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण
मुक्त निखिल मानवता करती मानवका अभिवादन।

हमारे देशमें भी साम्यवादका स्वर सुनायी पड़ता है। क्या उसीके द्वारा परिचालित अर्थ-प्रणालीसे मानवताका सौभाग्योदय हो जायगा ?

चाहे साम्यवाद हो, चाहे समाजवाद हो; उनके मूलमें पूँजीवादका मुद्रागत माध्यम बना रहेगा। किसी भी अर्थवादमें ऐसा कृत्रिम माध्यम हिंसासे ही चल सकता है, प्रेमसे नहीं। हमें ऐसा माध्यम और तदनुरूप ऐसी अर्थ-प्रणाली चाहिए जो किसी राजनीतिक अथवा कूटनीतिक शक्तिसे नहीं, मनुष्यके स्वतःप्रेरित सामाजिक सद्भावसे चल सके।

सम्प्रति देशकी औद्योगिक समृद्धि और शिक्षितोंकी बेकारी दूर करनेके लिए हमारी सरकार प्राविधिक शिक्षाको प्रमुखता दे रही है। यह अब तककी अर्थ-प्रणाली और शिक्षा-प्रणालीको बदलनेका प्रारम्भिक प्रयास है। कल-कारखानोंसे मजदूरों और शिक्षितोंका भला होगा। किसानोंको क्या लाभ होगा ? वैज्ञानिक और सहकारी खेतीके द्वारा उन्हें भी नये औद्योगिक स्तरपर लानेका प्रयत्न किया जा रहा है। देश विज्ञान और समाजवाद (या साम्यवाद) की ओर बढ़ रहा है। क्या यही मनुष्यका अन्तःप्रेरित निर्माण है ?

एक ओर प्राविधिक शिक्षापर जोर दिया जा रहा है, दूसरी ओर गान्धीजीकी बुनियादी तालीमकी भी बात सुनायी पड़ती है। इसमें स्वाभाविक श्रम ही अर्थ और शिक्षाका माध्यम है, स्नेह-सहयोग-सद्भाव ही समाज है। कविने कहा है—

मानव-करसे निखिल प्रकृति-जग
संस्कृत, सार्थक, सुन्दर।

इस बुनियादी तालीममें मनुष्य और प्रकृतिका सीधा सम्बन्ध स्थापित होता है, बीचसे यन्त्रोंका व्यवधान हट जाता है। मुद्रागत कृत्रिम माध्यमकी तरह कृत्रिम यान्त्रिक उद्योग भी अवाञ्छनीय हो जाता है, उनका स्थान मनुष्यके पारस्परिक विश्वास और श्रम-सहयोगको मिल जाता है, अर्थशास्त्र

व्यापारिक और राजनीतिक स्तरसे सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर आ जाता है।

बुनियादी तालीमसे स्थूल साधन ही सूक्ष्म साध्य बन जाता है, साहित्य-संस्कृति-कलाका हार्दिक विकास हो जाता है। अशिक्षित मनुष्य भी कबीर और रैदासकी तरह अपनी श्रम-साधनामें ही अन्तर्दृष्टि पा जाता है।

कहा जा सकता है कि गान्धीजीका मार्ग पुराना ग्रामीण मार्ग है। पुराना और नया, ग्रामीण और नागरिक, यह भी तो सम्प्रदायों और देशोंकी तरह ही कृत्रिम विभाजन है। हमें मनुष्यको सम्पूर्ण सृष्टिमें रखकर देखना चाहिए। जीवनके नैसर्गिक नियम सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। जिससे एक देशका कल्याण होगा उससे सभी देशों, सभी युगोंका कल्याण होगा।

गान्धीजीके विचार तभी कार्यान्वित हो सकते हैं जब सभी देश उन्हें अपना लें। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति यह है कि स्वार्थोंकी प्रतिस्पर्धाके कारण कोई भी देश गान्धी-मार्गपर चलनेके लिए तैयार नहीं है, क्योंकि आत्म-निर्णयमें निर्भय और स्वतन्त्र नहीं है। कहनेको युग प्रगतिशील हो गया है, किन्तु उसका मन नहीं बदल सका है। मनुष्यताको पारकर संसार अभी पुरानी सीमाओं और प्रवृत्तियोंके ही संशोधन-परिशोधनमें लगा हुआ है। वह प्रयोग-कालसे गुजर रहा है। नैतिक दृष्टिसे आज जैसे गान्धीजीके अनशन और सत्याग्रहकी ओर आकर्षित हुए वैसे ही कभी आर्थिक दृष्टिसे उनके रचनात्मक कार्योंकी ओर भी आकर्षित हो जायगा। कवि उसी निकटभविष्यमें उपस्थित होकर कहता है

"ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे,—
मुक्त दिशा औ' क्षणसे,
जीवनकी क्षुद्रता निखिल
मिट गयी मनुज जीवनसे!"

काशी,
२० अक्तूबर, सन् १९५२

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित
३१	३	स्मृत-विभोर	स्मृति-विभोर
६१	१७	'त्रिदम्बरा'	'चिदम्बरा'
६१	२६	'त्रिदम्बरा'	'चिदम्बरा'
६२	५	प्रलायन	पलायन
१०१	२१	एडेण्ट	एडेप्ट
१०२	३	अन्तरवादर्धक्य	अन्तर वादर्धक्य
१३४	४	लुप्त	प्लुत